A.C.-22.11.2022
Appendix-119

Department of Distance and Continuing Education
University of Delhi
दूरस्थ एवं सतत शिक्षा विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय

बी.ए.(प्रोग्राम) सेमेस्टर-I

कोर्स क्रेडिट-4

अनुशासन A-1/B-1 (संस्कृत)

संस्कृत व्याकरण

(संस्कृत-विभाग)

As per the UGCF and National Education Policy 2020

संपादक मंडल

प्रो. ओम नाथ बिमली

डॉ. ब्रह्म प्रकाश

डॉ. कान्ता

पाठ्य-सामग्री लेखक

डॉ. पतञ्जलि भाटिया

© दूरस्थ एवं सतत् शिक्षा विभाग

प्रथम संस्करण : 2022

ई–मेल : ddceprinting@col.du.ac.in

sanskrit@col.du.ac.in

Published by:

Department of Distance and Continuing Education under the aegis of Campus of Open Learning, University of Delhi

Printed by:

मुक्त शिक्षा विद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

अध्ययन सामग्री : 1 (इकाई I-IV)

इकाई–I	**पाठ** 1– संस्कृत व्याकरण का प्राथमिक अवलोकन	1–11
	पाठ 2– माहेश्वर सूत्र एवं संज्ञा प्रकरण	12–24
इकाई–II	**पाठ** 3– सन्धि प्रकरण : अच् सन्धि–यण्, अयादि, गुण, वृद्धि, पररूप, एवं प्रकृतिभाव सन्धि	25–45
	पाठ 4– सन्धि प्रकरण : हल् सन्धि–श्चुत्व, ष्टुत्व, जश्त्व, अनुनासिकत्व एवं छत्व सन्धि	46–58
	पाठ 5– सन्धि प्रकरण : विसर्ग सन्धि–सत्व, रुत्व, उत्व एवं लोप सन्धि	59–64
इकाई–III	**पाठ** 6– कारक तथा विभक्ति	65–85
इकाई–IV	**पाठ** 7– समास प्रकरण	86–103

सम्पादिका
डॉ. कान्ता
सहायक प्रोफेसर
संस्कृत विभाग
मुक्त शिक्षा विद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय

लेखक
स्व. डॉ. पतञ्जलि भाटिया
एसोशिएट प्रोफेसर
पी.जी.डी.ए.वी. महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय

*© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi*

पाठ–1 इकाई-I

लघुसिद्धान्तकौमुदी

संस्कृत व्याकरण का प्राथमिक अवलोकन

संरचना

1.1 उद्देश्य
1.2 प्रस्तावना
1.3 व्याकरण शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ
1.4 संस्कृत व्याकरण की आचार्य परम्परा
1.5 संस्कृत व्याकरण का वैशिष्ट्य
1.6 संस्कृत व्याकरण में शब्द विभाजन
1.7 संस्कृत व्याकरण में वर्ण एवं उच्चारण की वैज्ञानिक व्यवस्था
    1.7.1 स्वर
    1.7.2 व्यञ्जन
1.8 वर्णों के उच्चारण प्रयत्न
1.9 सारांश
1.10 शब्दावली
1.11 सन्दर्भ ग्रन्थ
1.12 अभ्यास प्रश्न

1.1 उद्देश्य

इस पाठ के अध्ययन के पश्चात् आप–

- व्याकरण के शाब्दिक एवं व्युत्पत्त्यर्थ से परिचित होंगे।
- व्याकरण शास्त्र की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझ सकेंगे।

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

- व्याकरण में मुनित्रय के योगदान से अवगत होंगे।
- संस्कृत भाषा में वर्ण एवं उच्चारण प्रक्रिया की वैज्ञानिकता को समझ सकेंगे।
- उच्चारण स्थान एवं उच्चारण प्रयत्न में पारस्परिक अन्तर को जान सकेंगे।

1.2 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियो! अब आप UGCF के प्रथम सेमेस्टर में संस्कृत विषय हेतु निर्धारित **DSC A-1/B-1** (Sanskrit Grammar) नामक पेपर का अध्ययन करेंगे। इस पाठ्यक्रम के अन्तर्गत आप विशेष रूप से संस्कृत व्याकरण का सामान्य परिचय एवं संज्ञा आदि विविध प्रकरणों को पढ़ेंगे। व्याकरण किसी भी भाषा की सैद्धान्तिक आधारशिला होती है। व्याकरण शास्त्र का जितना विस्तृत और सूक्ष्म अध्ययन संस्कृत भाषा में हुआ है, उतना अन्य किसी भाषा में नहीं। व्याकरण को साङ्ग वेद का मुख कहा गया है।

व्याक्रियन्ते–व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम् अर्थात् जिससे साधु (उचित) शब्दों का ज्ञान होता है, उसको 'व्याकरण' कहते हैं। इसी का दूसरा नाम 'शब्दानुशासन' भी है। व्याकरण शास्त्र के आदि प्रवक्ता ब्रह्मा हैं। पुनः ब्रह्मा ने बृहस्पति को तथा बृहस्पति ने इन्द्र को व्याकरण का उपदेश दिया। पाणिनि से पूर्व आपिशलि आदि दस व्याकरणाचार्य हुए हैं। किन्तु पाणिनिकृत व्याकरण सुप्रसिद्ध है। पाणिनि व्याकरण का स्वरूप पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि–इन मुनित्रय द्वारा सुनिश्चित हुआ है। यहाँ प्रस्तुत पाठ में संस्कृत व्याकरण की वर्ण एवं उच्चारण स्थान की वैज्ञानिक व्यवस्था, उच्चारण प्रयत्न, शब्द विभाजन एवं व्याकरण शास्त्र की उपयोगिता का वर्णन करने जा रहे हैं।

1.3 व्याकरण शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ

व्याकरण शास्त्र शब्दों की तर्कसंगत व्याख्या करने वाला शास्त्र कहलाता है। महाभाष्य में 'व्याकरण' शब्द का प्रयोग प्रायः 'शब्द व्याख्यान के विज्ञान' के रूप में ही हुआ है। आधुनिक आलोचकों के मत से यह ''भाषा परिवर्तन–विधान तथा शब्द की व्युत्पति का विज्ञान है'' अतएव इसे कला तथा विज्ञान दोनों की संज्ञा प्राप्त हुई। इसका अभिप्राय यह है कि यह एक ऐसा विशेष विज्ञान है जिसकी सहायता से शब्दों की मीमांसा की जाती है–**''व्याक्रियन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्।''** व्याकरण की दृष्टि से व्याकरण शब्द की रचना ''वि'' तथा ''आ'' उपसर्गपूर्वक कृ धातु से हुई है– वि+आ+कृ+ल्युट् (अन) = व्याकरण। यहाँ यह बात स्पष्ट रूप से जान लेनी चाहिए कि व्याकरण शब्दों की मीमांसा करता है रचना नहीं क्योंकि भाषा पहले होती है तथा व्याकरण बाद में बनता है। इस कथन का अभिप्राय यह है कि हमें पूर्व शब्दों की ही व्याख्या करनी होती है। शब्दों की व्याख्या करते समय हमें शब्द रचना के मुख्य अंगों – **उपसर्ग, धातु, प्रत्यय, आगम** आदि – का विशेष ध्यान रखना होता है। इन शब्दांगों की सहायता से ही एक धातु से अनेकार्थक भिन्न-भिन्न शब्दों की

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

रचना होती है, यथा 'गम्' धातु से गच्छति, आगच्छति, आगच्छत्, जगाम, गमन, गति आदि शब्द बनते हैं।

1.4 संस्कृत व्याकरण की आचार्य परम्परा

महर्षि शांकटायन के ग्रन्थ 'ऋक्तन्त्र' के अनुसार व्याकरण का कथन सर्वप्रथम ब्रह्मा ने बृहस्पति से किया, बृहस्पति ने इन्द्र से, इन्द्र ने भारद्वाज से, भारद्वाज ने ऋषियों से, ऋषियों ने ब्राह्मणों से व्याकरण का कथन किया। ऐसा माना जाता है कि प्राचीनतम व्याकरण ऐन्द्र व्याकरण है। इसके अतिरिक्त वोपदेव ने संस्कृत के मान्य आठ व्याकरण-सम्प्रदायों का उल्लेख किया **है–इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः। पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः।।** सम्प्रति व्याकरण-वेदांग का प्रतिनिधित्व करने वाला एकमात्र ग्रन्थ **पाणिनि-व्याकरण** है। यह ग्रन्थ आठ अध्यायों में विभक्त है, इसीलिए इसे 'अष्टाध्यायी' कहते हैं। इस ग्रन्थ में संस्कृत में प्रयुक्त होने वाले शब्दों की व्याख्या करने की उद्देश्य से कात्यायन ने वार्तिकों की रचना की। तदनन्तर महर्षि पतञ्जलि ने महाभाष्य की रचना की। पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि इन तीनों को मिलाकर **'त्रिमुनि'** कहते हैं। कालान्तर में भट्टोजिदीक्षित ने प्रक्रियानुसार 'सिद्धान्तकौमुदी' की रचना कर प्रकरण ग्रन्थों का प्रारम्भ किया।

1.5 संस्कृत व्याकरण का वैशिष्ट्य

संस्कृत व्याकरण की यह अपनी विशेषता है कि उसमें वाक्य रचना की अपेक्षा शब्द-रचना पर अधिक बल दिया जाता है। इसके विपरीत कुछ अन्य भाषाओं के व्याकरण में प्रायः शब्द-रचना की अपेक्षा वाक्य-रचना पर ही अधिक बल दिया जाता है।

व्याकरण शास्त्र अथवा व्याकरण शास्त्रीय नियमों का अध्ययन भाषा के शुद्ध प्रयोग के लिए उपादेय ही नहीं अपितु अनिवार्य है। संस्कृत एक अति समृद्ध और वैज्ञानिक भाषा है। अन्य विकसित भाषाओं की भांति इसके शब्दों में पूर्ण गाम्भीर्य युक्त ऐसा दिव्य अर्थवैचित्र्य विद्यमान है जो विशेष पदार्थों का परिचायक है। प्रत्येक शब्द एक नूतन अर्थ की छाया से युक्त है। उपसर्ग तथा प्रत्यय के संयोग से शब्दों के अर्थ में प्रायः परिवर्तन हो जाता है। भिन्न शब्दों के अर्थ में सामान्य अर्थ भेद होते हुए भी, वे शब्द एक मुख्य अर्थ विशेष का परिचय देते हैं जैसे केवल पानी शब्द के लिए ही, उसके गुणों के आधार पर भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग होता है। जैसे–

वारि='वृ' धातु से, घेरने के अर्थ में।

पानीय='पा' धातु से पीने योग्य।

जल='जल्' धातु से, शीतल होने के अर्थ में।

सलिल='सल्' धातु से धीरे-धीरे चलने वाला।

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

नीर=‘नि:’ उपसर्ग+‘ईर्’ धातु से गति तथा कम्पन से युक्त (जिसमें हल्की लहरें विद्यमान हों)।

उदक=‘उन्द्’ धातु से गीला करने के अर्थ में।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पानी अपने आप में एक होते हुए भी अपने विभिन्न गुणों के कारण भिन्न-भिन्न नामों से जाना जाता है।

विश्व की लगभग सब भाषाओं के शब्दों के मूल अर्थ प्राय: एक होते हुए भी उनमें अर्थ-विशेष का दर्शन होता है। यथा – **अंग्रेजी में ब्यूटीफुल (beautiful), हैण्ड्सम (handsome), लवली (lovely), कॉमली (comely), नाईस (nice) तथा चार्मिंग (charming) आदि** अपने मूल अर्थों में एक होते हुए भी भिन्न-भिन्न (विशेष) अर्थों के द्योतक हैं। ये सभी शब्द ‘सुन्दर’ शब्द के पर्यायवाची हैं।

1.6 संस्कृत व्याकरण में शब्द विभाजन

संस्कृत भाषा में प्रकृति और प्रत्यय के संयोग से शब्दों का निर्माण होता है। संस्कृत शब्दों की इसी विशेषता को लक्ष्य करके निरुक्त के प्रणेता यास्काचार्य ने अपने समय के नैरुक्तों तथा शाकटायन के मत की स्थापना की-“नामान्याख्यातजानि’ - अर्थात् धातुओं से ही शब्दों में उपसर्ग तथा प्रत्यय लगाकर शब्द- शृंखला प्राप्त होती है।

संस्कृत व्याकरण में निम्नलिखित विषयों का अध्ययन किया गया है-

वर्णमाला, सन्धि-नियम, शब्दरूप, धातुरूप, समास, कारक (विभक्तियाँ), कृदन्त, तद्धित, स्त्री-प्रत्यय, अव्यय, वाक्य-रचना आदि।

1.7 संस्कृत व्याकरण में वर्ण एवं उच्चारण की वैज्ञानिक व्यवस्था

अब हम देवनागरी लिपि, जिसमें संस्कृत लिखी जाती है, की वर्णमाला पर विचार करते हैं। संस्कृत वर्णों की व्यवस्था वैज्ञानिक पद्धति से हुई है। वास्तव में संस्कृत वर्णों की निर्दोष एवं विवेकपूर्ण व्यवस्था प्राचीन भारत की बहुमूल्य देन है। संस्कृत वर्णमाला के संबंध में मैक्डानल महोदय का कथन है-“यह न केवल संस्कृत की सभी ध्वनियों का प्रतिनिधित्व करती है अपितु यह एक नितान्त वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार क्रमबद्ध भी है। सर्वप्रथम सामान्य स्वर (ह्रस्व तथा दीर्घ) गिनाए गए हैं, तत्पश्चात् सन्धिस्वर और अन्त में व्यञ्जन जो कि अपने उच्चारण स्थानों के अनुसार समरूप समुदायों में व्यवस्थित है। . . . दूसरी ओर योरोपवासी 2500 वर्ष पश्चात् एक वैज्ञानिक युग में अब भी उस वर्णमाला का प्रयोग करते हैं, जो न केवल हमारी (योरोपीय) भाषाओं की समस्त ध्वनियों का प्रतिनिधित्व करने में अपर्याप्त है, अपितु स्वर तथा व्यञ्जनों का उद्देश्यहीन क्रम भी वही चला आ रहा है। यह क्रम हजार वर्ष पूर्व प्राथमिक सैमिटिक ग्रीक भाषा में स्वीकार किया गया था।[1]”

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

वर्ण एक स्पष्ट ज्ञातव्य ध्वनि है। अक्षर बोलने की एक इकाई है जो स्वरों के आदि अथवा अन्त में व्यञ्जनों के संयोग से अथवा बिना व्यञ्जनों के भी बनती है। संस्कृत वर्णमाला के क्रम में सर्वप्रथम स्वर आते हैं फिर व्यञ्जन और तत्पश्चात् अन्य विशेष ध्वनियाँ। अंग्रेजी भाषा में स्वरों को 'वावेल' (अवूमस) तथा व्यञ्जनों को कॉन्सोनेन्ट (consonant) कहते हैं।

1.7.1 स्वर

स्वर संख्या में नौ हैं और दो भागों में विभक्त किये गये हैं। **साधारण स्वर भी दो तरह के हैं- ह्रस्व स्वर एवं दीर्घ स्वर।**

स्वर (अच्) –

साधारण स्वर – 1. ह्रस्व स्वर-अ, इ, उ, ऋ, लृ।
2. दीर्घ स्वर-आ, ई, ऊ, ॠ। लृ का प्रयोग केवल एक शब्द क्लृप में मिलता है और इसका दीर्घ रूप नहीं होता।

सन्धि स्वर - 1. गुण स्वर-ए, ओ,
2. वृद्धि स्वर-ऐ, औ

ये सन्धि स्वर एकाधिक अक्षरों से मिल कर बने हुए अक्षर हैं। स्मरणीय है कि, ए=अ+इ का, ऐ=अ+ए का, ओ=अ+उ का एवं औ=अ+ओ का सन्धिरूप है।

लौकिक संस्कृत भाषा में प्रायः प्लुत स्वरों का प्रयोग नहीं देखा जाता अतएव यहाँ उनका वर्णन नहीं कियागया है।

इन स्वरों के उच्चारण स्थान निम्न हैं–

अ आ-कण्ठ,

इ ई-तालु,

उ ऊ-ओष्ठ,

ऋ-मूर्धा,

लृ-दन्त,

ए ऐ-कण्ठतालु,

ओ औ-कष्ठौष्ठ।

1.7.2 व्यञ्जन

व्यञ्जनों की संख्या पैंतीस है जो निम्नलिखित समुदायों में विभक्त है–

स्पर्श-25

घर्षक अथवा ऊष्म-3

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

अन्त:स्थ–4

महाप्राण–1

विसर्ग तथा अनुस्वार–2

स्पर्श–

स्पर्श वे व्यञ्जन हैं जिनकी उत्पत्ति वायु को रोकने तथा फिर उसके विस्फोट से होती है अथवा जिनके उच्चारण में उच्चारणावयवों का पूर्ण स्पर्श होता है। इन्हें पांच–पांच वर्णों में विभक्त किया जाता है। इन वर्णों का नामकरण मुख–विवर के उस बिन्दु (स्थान) के अनुसार किया गया है जहां विस्फोट होता है। एक वर्ग के पांच वर्णों की व्यवस्था भी एक वैज्ञानिक क्रमानुसार की गई है। उदाहरणतया, प्रथम वर्ग कण्ठ्य कहलाता है क्योंकि इस वर्ग में विस्फोट का बिन्दु कण्ठ है। इस वर्ग के पाँच वर्णों-क् ख् ग् घ् ङ्-में प्रथम दो-क् ख्-अघोष हैं, तृतीय तथा चतुर्थ-ग्, घ्-घोष हैं। अघोष तथा घोष का विभाजन गले के भीतर वाक्तन्तुओं के स्फुरण पर आधारित है। क् तथा ग् को अधिक श्वास की आवश्यकता नहीं होती इसलिए इन्हें अल्पप्राण कहते हैं। ख् तथा घ् को अधिक श्वास की आवश्यकता होती है इसलिए इन्हें महाप्राण कहते हैं। ङ् अनुनासिक है क्योंकि श्वास को नासिका में भी प्रवाहित करके इसका उच्चारण किया जाता है। पाँच–पाँच वर्णों के पाँचों वर्ग उसी नियमानुसार क्रमबद्ध हैं जैसा कि ऊपर क् वर्ग के संबंध में दिखाया गया है। पाँचों वर्ग अपने उच्चारण स्थान के अनुसार तथा अघोष, घोष के क्रम से नीचे दिए जा रहे हैं–

वर्ग	स्थान	अघोष अल्पप्राण	अघोष महाप्राण	घोष अल्पप्राण	घोष महाप्राण	अनुनासिक
कवर्ग	कण्ठ	क्	ख्	ग्	घ्	ङ्
चवर्ग	तालु	च्	छ्	ज्	झ्	ञ्
टवर्ग	मूर्धा	ट्	ठ्	ड्	ठ्	ण्
तवर्ग	दन्त	त्	थ्	द्	घ	न्
पवर्ग	ओष्ठ	प्	फ्	ब्	भ्	म्

व्यञ्जन वर्णों को हल् के सहित अर्थात् नीचे तिरछी लकीर सहित-जैसे क्-दर्शाया जाता है क्योंकि अन्यथा क=क्+अ का निर्देशक है जब कि नीचे तिरछी लकीर सहित क् विशुद्ध व्यञ्जन निर्देश करता है।

अन्त:स्थ वर्ण चार हैं। य् इ के समान, र्, ऋ के समान, ल्, लृ के समान, एवं व् उ के समान क्रमश: तालव्य, मूर्धन्य, दन्त्य एवं दन्त्योष्ठ हैं। तीन अन्त:स्थ व्यञ्जन य् व् तथा ल् कभी-कभी अनुनासिक भी हो जाते हैं तब उन्हें अनुनासिक चिन्हों के साथ लिखते हैं यथा-यँ, वँ, लँ।

तीन घर्षक या ऊष्म वर्ण नीचे अपने उच्चारण स्थानों के अनुसार क्रमबद्ध दिये जा रहे हैं।

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

तालव्य-श्

मूर्धन्य-ष्

दन्त्य-स्

महाप्राण-ह्

इसके अतिरिक्त दो और ध्वनियाँ हैं जिन्हें संस्कृत वर्णमाला की अपनी विशेषता कहा जा सकता है। ये हैं–

(*i*) विसर्ग-जिसे ऊपर से नीचे दो बिन्दुओं (:) से दर्शाया जाता है, जैसे रामः।

(*ii*) अनुस्वार-जिसे वर्ण के ऊपर एक बिन्दु (–ं) से दर्शाया जाता है, जैसे रामं।

इसके अतिरिक्त अर्धविसर्ग-उपध्मानीय एवं जिह्वामूलीय भी हैं। प् और फ् के साथ आने वाला अर्धविसर्ग उपध्मानीय तथा क् और ख् के साथ आने वाला जिह्वामूलीय कहलाता है।

विसर्ग का उच्चारणस्थान कण्ठ, अनुस्वार का नासिका, उपध्मानीय का ओष्ठ और जिह्वामूलीय का जिह्वामूल है। क्ष् (क्+ष्), त्र् (त्+र्), ज्ञ् (ज्+ञ्) संयुक्त व्यञ्जन होने के कारण वर्णमाला में नहीं दिए गए हैं।

यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि व्यञ्जनों का उच्चारण स्वरों की सहायता से ही होता है। अंग्रेजी भाषा के शब्द 'कॉन्सोनेन्ट' का प्रयोग 'कान्'-संयुक्त, 'सोनेन्ट' ध्वनि के संयुक्त अर्थ संयुक्तध्वनि के रूप में होता है। विशेष व्यञ्जन में स्वर की उपस्थिति का ज्ञान कराने के लिए स्वर मात्राओं का प्रयोग होता है।

1.8 वर्णों के उच्चारण प्रयत्न

वर्णों के उच्चारण के समय जो शारीरिक यत्न होते हैं उसे प्रयत्न कहते हैं। **वरदराज के अनुसार यत्न दो प्रकार का होता है– "यत्नो द्विधा–आभ्यन्तरो बाह्यश्च। आद्यः पञ्चधा–स्पृष्टेषत्स्पृष्टेषद्विवृतविवृतंसवृतभेदात्। तत्र स्पृष्टं प्रयत्नं स्पर्शानाम् ईषत्स्पृष्टमन्तस्थानाम्। ईषद्विवृतमूष्मणाम् विवृतं स्वराणाम्। ह्रस्वस्यावर्णस्य प्रयोगे संवृतम्, प्रक्रियादशायां तु विवृतमेव।"**

अर्थात् प्रयत्न दो प्रकार का होता है, आभ्यन्तर- जो मुख के अन्दर होता है एवं बाह्य–जो मुख से बाहर होता है। आभ्यन्तर प्रयत्न के स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, ईषद्विवृत, विवृत तथा संवृत नामक पाँच भेद होते हैं।

स्पृष्ट–'जिनके उच्चारण में वागिन्द्रिय का द्वार बन्द रहता है वे स्पृष्ट वर्ण हैं जैसे क् से लेकर म् तक के व्यञ्जन।

ईषत्स्पृष्ट–जिनके उच्चारण में वागिन्द्रिय का द्वार **कुछ** बन्द रहता है वे ईषत्स्पृष्ट कहलाते हैं जैसे-ऊष्म-श ष स तथा ह वर्ण।

© *Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi*

विवृत– स्वरों का आभ्यन्तर प्रयत्न विवृत है। ह्रस्व अकार का आभ्यन्तर प्रयत्न सामान्य प्रयोग में संवृत है, परन्तु व्याकरण की प्रक्रिया की दशा में इसका प्रयत्न भी विवृत ही माना जाता है।

ईषद्विवृत– जिनके उच्चारण में वागिन्द्रिय **कुछ** खुली रहती है वे ईषद्विवृत हैं जैसे अन्तःस्थ–**य र ल व वर्ण।**

बाह्य प्रयत्नों के विषय में वरदराजाचार्य का कथन है–''बाह्यप्रयत्नस्त्वेकादशधा–विवारः संवारः श्वासो नादो घोषो घोषोऽल्पप्राणो महाप्राण उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितश्चेति। खरो विवाराः श्वासा अघोषाश्च। हशः संवारा नादा घोषाश्च वर्गाणां प्रथमतृतीयपञ्चमयणश्चाल्पप्राणाः। वर्गाणा द्वितीयचतुर्थै शलश्च महाप्राणाः।

अर्थात् बाह्य प्रयत्न ग्यारह प्रकार का होता है-विवार, संवार, श्वास, नाद, घोष, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण, उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित। खर् प्रत्याहार के वर्णों (वर्ग के प्रथम, द्वितीय वर्ण तथा श् ष् स्) का प्रयत्न विवार, श्वास तथा अघोष है। हश् प्रत्याहार के वर्णों (वर्ग के तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम वर्ण तथा ह् य् व् र्) का प्रयत्न संवार, नाद तथा घोष है। वर्गों के प्रथम, तृतीय और पञ्चम वर्ण और य् व् र् ल् अल्पप्राण हैं और वर्गों के द्वितीय तथा चतुर्थ वर्ण और श् ष् स् ह् महाप्राण हैं।

इन भेदों में घोष अघोष ही मुख्य हैं। अन्य का व्याकरण में अधिक प्रयोग नहीं होता।

उच्चारण स्थान तालिका

उच्चारण स्थान Organs of Speech	**स्पर्श** Mutes	**अन्तःस्थ** Semi vowels	**ऊष्म** Spirant or Sibilants	**स्वर** Vowel
कण्ठ (Velar)	क, ख, ग, घ, ङ		ह	अ, आ, विसर्ग
तालु (Palatal)	च, छ, ज, झ, ञ	य	श	इ, ई
मूर्धा (Retroflex)	ट, ठ, ड, ढ, ण	र	ष	ऋ, ॠ
दन्त (Dental)	त, थ, द, ध, न	ल	स	लृ
ओष्ठ (Labial)	प, फ, ब, भ, म	व (दन्तौष्ठ)		उ, ऊ
कण्ठतालु (Palato-velar)			ए, ऐ	
कण्ठौष्ठ (Labiovelar)				ओ, औ
नासिका (Nasal)	ङ, ञ, ण, न, म (अनुस्वार)			

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

स्थान प्रयत्न तालिका

प्रयत्न				स्थान				प्रयत्न	
आभ्यन्तर	कष्ठ	तालु	मूर्धा	दन्त	ओष्ठ	दन्त्योष्ठ	कंठतालु	कण्ठौष्ठ	बाह्य
	क	च	ट	त	प				
	ख	छ	ठ	थ	फ			अघोष	
स्पृष्ट	ग	ज	ड	द	ब				
	घ	झ	ढ	ध	भ				सघोष
	ङ	ञ	ण	न	म				
ईषद्विवृत		य	र	ल		व			
ईषत्स्पृष्ट		श	ष	स					
	ह								
विवृत	अ	इ	ऋ	लृ	उ		ए	ओ	सघोष
	आ	ई	ॠ		ऊ		ऐ	औ	

1.9 सारांश

प्रिय छात्रो! उपरोक्त पाठ का अध्ययन इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि पवित्र वेदों के शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छन्द और ज्योतिष–ये छः अंग हैं। इनमें व्याकरणशास्त्र को वेद-शरीर का मुख माना गया है अर्थात् यह वेदों का एक मुख्य अंग है। महर्षि पतञ्जलि कहते **हैं–प्रधानं षट्स्वंगेषु व्याकरणं, प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति** अर्थात् वेदों के छः अंगों में व्याकरणशास्त्र प्रधान है और प्रधान में किया गया यत्न सफल होता है। व्याकरणशास्त्र के आदि उपदेष्टा ब्रह्मा कहे गए हैं। सम्प्रति व्याकरण-वेदाङ्ग का प्रतिनिधित्व करने वाला एकमात्र ग्रन्थ पाणिनि-व्याकरण है। पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि ये तीनों पाणिनीय व्याकरण के प्रमुख या मुनित्रय कहलाते हैं। इनमें भी उत्तरोत्तर मुनि पूर्व-पूर्व से अधिक प्रामाणिक माना जाता है। इसीलिए कहा जाता **है–उत्तरोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्।** संस्कृत व्याकरण में प्रत्येक शब्द एक नवीन अर्थ की छाया से युक्त है। उपसर्ग तथा प्रत्यय के संयोग से शब्दों के अर्थ में प्रायः परिवर्तन हो जाता है। इसी प्रकार से संस्कृत भाषा में वर्णों की व्यवस्था भी पूर्णतः वैज्ञानिक है। संस्कृत वर्णमाला में सर्वप्रथम

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

स्वर, फिर व्यञ्जन और तत्पश्चात् अन्य विशेष ध्वनियाँ आती हैं। जिनका विशेष विवेचन इस पाठ के अन्तर्गत किया गया है। इसी प्रकार वर्णों के उच्चारण एवं उच्चारण अवयवों की व्यवस्था भी वैज्ञानिक क्रमानुसार की गई है। वर्णों के उच्चारण के समय जो शारीरिक यत्न किया जाता है; उसे प्रयत्न कहा जाता है। प्रयत्न दो प्रकार होता है–आभ्यन्तर और बाह्य प्रयत्न। सभी अन्तः एवं बाह्य प्रयत्नों का अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन इस पाठ के अन्तर्गत किया गया है।

1.10 शब्दावली

तर्कसंगत – उचित, युक्तियुक्त

मीमांसा – किसी भी विषय के सम्बन्ध में किया जाने वाला गम्भीर विचार, तथ्यान्वेषण।

शब्दानुशासन – व्याकरणशास्त्र का ही दूसरा नाम

प्रकृति – मूल शब्द

अव्यय – अविकारी शब्द

जिह्वामूलीय – क् और ख् के साथ आने वाला अर्धविसर्ग जिह्वामूलीय कहलाता है।

उपध्मानीय – प् और फ् के साथ आने वाला अर्धविसर्ग उपध्मानीय कहलाता है।

आभ्यन्तर प्रयत्न – मुख के अन्दर होने वाला प्रयत्न

बाह्य प्रयत्न – मुख से बाहर होने वाला प्रयत्न।

1.11 सन्दर्भ–ग्रन्थ

- ***लघुसिद्धान्तकौमुदी***, चन्द्रकला नामक हिन्दी व्याख्या, डॉ. अर्कनाथ चौधरी, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर, 2001
- ***लघुसिद्धान्तकौमुदी***, धरानन्द शास्त्री, मूल एवं हिन्दी व्याख्या, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2003
- ***लघुसिद्धान्तकौमुदी*** (भैमी व्याख्या), भीमसेन शास्त्री, प्रथम भाग, भैमी प्रकाशन, दिल्ली, 1983।
- ***लघुसिद्धान्तकौमुदी***, प्रकाशिका नाम्नी हिन्दी व्याख्या, सत्यपाल सिंह, शिवालिक पब्लिकेशन, दिल्ली, 2014
- शर्मा 'ऋषि', डॉ. उमाशंकर–***संस्कृत साहित्य का इतिहास***, चौखम्भा भारती अकादमी, वाराणसी, 2014

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

1.12 अभ्यास प्रश्न

1. व्याकरण का अर्थ एवं व्युत्पत्ति स्पष्ट कीजिए।
2. 'त्रिमुनि व्याकरणम्' कथन की समीक्षा कीजिए।
3. व्याकरणशास्त्र की उपयोगिता पर प्रकाश डालिए।
4. संस्कृत व्याकरण में शब्दों का विभाजन किस प्रकार से किया गया है?
5. संस्कृत वर्णमाला की वैज्ञानिकता को सिद्ध कीजिए।
6. संस्कृत व्याकरण में वर्णित उच्चारण स्थानों का सोदाहरण वर्णन कीजिए।
7. निम्न में से किन्हीं दो पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए–

   क. पाणिनि ख. बाह्य प्रयत्न

   ग. पतञ्जलि घ. आभ्यन्तर प्रयत्न

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

पाठ–2

लघुसिद्धान्तकौमुदी

माहेश्वर सूत्र एवं संज्ञा प्रकरण

संरचना

2.1 उद्देश्य
2.2 प्रस्तावना
2.3 चौदह माहेश्वर सूत्र
2.4 संज्ञा प्रकरण–**'हलन्त्यम्'** सूत्र से **'सुप्तिङन्तं पदम्'** सूत्र पर्यन्त
  2.4.1 इत् संज्ञा
  2.4.2 लोप संज्ञा
  2.4.3 प्रत्याहार संज्ञा
  2.4.4 ह्रस्व–दीर्घ–प्लुत संज्ञा
  2.4.5 उदात्त–अनुदात्त–स्वरित संज्ञा
  2.4.6 अनुनासिक संज्ञा
  2.4.7 सवर्ण संज्ञा
  2.4.8 सन्धि या संहिता संज्ञा
  2.4.9 संयोग संज्ञा
  2.4.10 पद संज्ञा
2.5 सारांश
2.6 शब्दावली
2.7 सन्दर्भ–ग्रन्थ
2.8 अभ्यास प्रश्न

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

2.1 उद्देश्य

इस पाठ के अध्ययन के पश्चात् आप–

- चौदह माहेश्वर सूत्र अथवा प्रत्याहार सूत्रों के महत्त्व को जानेंगे।
- संस्कृत वर्णमाला की वैज्ञानिक पद्धति से अवगत होंगे, साथ ही अच्, अल्, इक् आदि प्रत्याहारों के अन्तर्गत आने वाले वर्णसमूह को जानेंगे।
- इत् संज्ञा विधायक सूत्र **'हलन्त्यम्'** के अन्तर्गत 'उपदेश' एवं 'आद्योच्चारण' पदों का अर्थ जान सकेंगे।
- **'अदर्शनं लोपः'** तथा **'तस्य लोपः'** सूत्रों द्वारा लोप संज्ञा को समझेंगे।
- प्रत्याहार बनाने की विधि को **'आदिरन्त्येन सहेता'** सूत्र के माध्यम से जान सकेंगे।
- स्वरों के ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत तथा उनके भी उदात्त, अनुदात्त, स्वरित–तीन–तीन भेदों तथा पुनः इन सभी के अनुनासिकत्व और अननुनासिकत्व–इन समस्त 18 भेदों से परिचित होंगे।
- **'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्'** सूत्र द्वारा सवर्णसंज्ञक वर्णों की पहचान कर सकेंगे।
- वर्णों के उच्चारण स्थान व प्रयत्नों से अवगत होंगे।
- संहिता व संयोग संज्ञाओं को जानेंगे।
- सुबन्त और तिङन्त का ज्ञान प्राप्त करेंगे।

2.2 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियो! पिछले पाठ में पृष्ठभूमि स्वरूप संस्कृत व्याकरण की प्राचीन परम्परा के अध्ययन के पश्चात् अब आप लुघसिद्धान्तकौमुदी के कतिपय महत्त्वपूर्ण प्रकरणों को आगे के अध्यायों में यथास्थान पढ़ेंगे। आपने पूर्व पाठ में जाना कि संस्कृत भाषा एकमात्र ऐसी भाषा है जिसका व्याकरण व्यवस्थित रूप से सूत्रों में निबद्ध है। आचार्य पाणिनि ने अपने ग्रन्थ अष्टाध्यायी में चार हजार से भी कम सूत्रों में समस्त वैदिक एवं लौकिक संस्कृत वाङ्मय के शब्दों का स्वरूप सिद्ध किया है। यही कारण है कि विश्व के व्याकरण ग्रन्थों में पाणिनि की अष्टाध्यायी का स्थान अग्रगण्य है। अष्टाध्यायी में सूत्रों का क्रम संज्ञा आदि प्रकरणों के अनुसार नहीं है, ऐसा आचार्य ने संक्षेप की दृष्टि से किया है अर्थात् पूर्व सूत्र में प्रयुक्त शब्द आगे आने वाले सूत्र के लिए भी प्रयुक्त हो सके, उसे पुनः प्रत्येक सूत्र में लिखने की आवश्यकता न पड़े। इसी क्रम में अष्टाध्यायी के कुछ सूत्रों पर आलोचनात्मक विचार हेतु कात्यायन ने वार्तिकों की रचना की। पुनः सूत्रों एवं वार्तिकों की विशद व्याख्या स्वरूप महर्षि पतञ्जलि ने 85 आह्निकों में 'महाभाष्य' की रचना की। अतः

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि–ये तीनों आचार्य व्याकरणशास्त्र के प्रवर्त्तक कहे जाते हैं।

कालान्तर में आचार्य भट्टोजीदीक्षित ने 'सिद्धान्तकौमुदी' नामक प्रक्रिया ग्रन्थ की रचना की तथा वरदराज आचार्य ने सिद्धान्तकौमुदी के ही संज्ञा, समास, कारक आदि से सम्बद्ध कुछ सूत्रों को प्रकरणानुसार व्यवस्थित कर लघुसिद्धान्तकौमुदी की रचना की। सर्वप्रथम ग्रन्थ में चौदह माहेश्वर सूत्र वर्णित हैं, जो पाणिनीय व्याकरण का महत्त्वपूर्ण अंग हैं। जिनमें संस्कृत की सम्पूर्ण वर्णमाला समाहित है। इन सूत्रों का मुख्य उद्देश्य प्रत्याहारों का निर्माण करना है। अत: इन्हें प्रत्याहारसूत्र भी कहते हैं। इत्, लोप, सवर्ण, प्रत्याहार, संयोग, पद आदि महत्त्वपूर्ण संज्ञाओं को संज्ञा प्रकरण में वर्णित किया गया है। प्रस्तुत पाठ में आप इन सभी संज्ञाओं का विस्तृत रूप से अध्ययन करने जा रहे हैं–

2.3 चौदह माहेश्वर सूत्र

महामुनि पाणिनि ने संस्कृत भाषा का एक सम्पूर्ण व्याकरण रचा जिसका नाम 'अष्टाध्यायी' जगत्प्रसिद्ध है। पाणिनि ने अपने व्याकरण के प्रारम्भ में ही स्वरों तथा व्यंजनों को वैज्ञानिक पद्धति से क्रमबद्ध किया है। अक्षरों को उन्होंने चौदह सूत्रों में प्रस्तुत किया है जिन्हें शिव सूत्र अथवा माहेश्वर सूत्र कहते हैं। प्रसिद्धि है कि इन सूत्रों को पाणिनि ने महेश्वर (शिव) की आराधना के फलस्वरूप प्राप्त किया था, इसलिए इन्हें माहेश्वर-सूत्र कहते हैं। ये सूत्र चौदह हैं–

(1) **अ इ उ ण्** (2) **ऋ लृ क** (3) **ए ओ ङ्** (4) **ऐ औ च्** (5) **ह य व र ट्** (6) **ल ण्** (7) **ञ म ङ ण न म्** (8)**झ भ ञ्** (9) **घ ढ धष्** (10) **ज ब ग ड द श्** (11) **ख फ छ ठ थ च ट त व्** (12) **क प य्**(13) **श ष स र्**(14) **ह ल्** ।

इति माहेश्वराणि सूत्रोण्यणादि संज्ञार्थानि। एषामन्त्या इत:। हकारादिष्वकार उच्चारणार्थ:।

उपर्युक्त सूत्रों में से प्रत्येक सूत्र के अन्त में एक व्यंजन है; जैसे-प्रथम सूत्र के अन्त में 'ण्', द्वितीय के अन्त में 'क्', चतुर्थ के अन्त में 'च्' दशम के अन्त में 'श्' इत्यादि सूत्रों के अन्त में आने वाले ये व्यंजन इत् संज्ञक कहलाते हैं। माहेश्वर सूत्रों में आने वाले किसी भी वर्ण और इत्संज्ञक वर्ण को मिलाकर प्रत्याहार बनाए जाते हैं, जैसे पाँचवें सूत्र का 'ह' और अन्तिम सूत्र का इत् संज्ञक वर्ण 'ल्' लेकर हल् प्रत्याहार बनेगा, जिसमें सभी व्यंजन आ जाते हैं। इसी प्रकार प्रथम सूत्र का 'अ' और चौथे सूत्र के 'च्' इत्संज्ञक वर्ण को मिलाकर अच् प्रत्याहार बनता है जो सभी स्वरों का बोधक है क्योंकि इत्संज्ञक वर्ण के साथ मिलाकर इन सूत्रों का कोई वर्ण जब प्रत्याहार के आदि में रखा जाता है तब वह अपना और अपने तथा इत्संज्ञक वर्ण के मध्य में आने वाले अन्य वर्णों का बोध करता है। उदाहरण के लिए अण् प्रत्याहार में इत्संज्ञक 'ण्' के सहित आदि वर्ण के मध्य में आने वाले वर्णों का (इ उ) तथा अपना (अ का) ज्ञान कराता है। इसी प्रकार जश् प्रत्याहार में ज ब ग ड द सभी वर्णों का समावेश है, झल् प्रत्याहार से झ भ घ ढ ध ज ब ग ड द ख फ

© *Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi*

छ ठ थ च ट त क प श ष स और ह का ज्ञान होता है। ये प्रत्याहार वर्णों को स्मरण रखने में सहायक होते हैं। अभी ऊपर आपने देखा है कि झल् प्रत्याहार में 24 वर्ण हैं जिन्हें वैसे स्मरण रखना अत्यधिक कठिन है जबकि झल् प्रत्याहार के रूप में उन्हें स्मरण रखना अतीव सरल हो जाता है। यह स्पष्ट है कि प्रत्याहार के आदि वर्ण से लेकर इत्संज्ञक के पूर्ववर्ती वर्ण तक, प्रत्याहार के द्वारा, जिन वर्णों का बोध कराया जाये उसमें इत्संज्ञक वर्णों का समावेश नहीं होता है क्योंकि इत्संज्ञक वर्णों का लोप माना जाता है। यथा–अच् प्रत्याहार के द्वारा अ से औ तक जिन स्वरों का बोध कराया जाता है। उनमें ण् क् ङ् आदि इत्संज्ञक वर्णों का समावेश नहीं है क्योंकि इत् संज्ञक होने के कारण इनका लोप हो जाता है।

उपर्युक्त प्रक्रिया के अनुसार पाणिनीय व्याकरण में बयालीस प्रत्याहार बनाए जाते हैं, यथा–**अच्, अट्, अल्, अश्, इक्, इच्, एङ्, एच्, ऐच्, हश्, हल्, यण्, यज्, यर्, वल्, रल्, ङम्, झष्, झश्, झल्, जश्, खय्, खर्, चर्, शर्, शल्** इत्यादि।

वर्णों के भेद

प्रत्याहारों के द्वारा वर्णों के जो विभिन्न वर्ग गिनाए गए हैं, उनमें से एक वर्ग स्वरों का है। अच् प्रत्याहार में सब स्वरों का समावेश है। स्वरों के उच्चारण में जो काल लगता है उसके अनुसार स्वरों के तीन भेद हैं–

ह्रस्व–जिसके उच्चारण में एक मात्रा का काल लगे वह ह्रस्व वर्ण कहलाते हैं।

दीर्घ–जिसके उच्चारण में दो मात्रा का काल लगे वह दीर्घ वर्ण कहलाते हैं।

प्लुत–जिसके उच्चारण में तीन मात्रा का काल लगे उसे प्लुत वर्ण कहते हैं।

वेदों के उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित के अनुसार स्वरों के पुनः तीन भेद होते हैं। तालु आदि स्थानों के ऊपर के भाग से जिस अच् (स्वर) का उच्चारण हो वह **उदात्त** कहलाता है। तालु आदि स्थानों के नीचे के भाग से उच्चारित किए जाने वाले वर्ण **अनुदात्त** कहलाते हैं एवं जिस अच् के उच्चारण में उदात्तत्व तथा अनुदात्तत्व दोनों वर्ण-धर्मों का मेल हो, उसे स्वरित कहते हैं। इस प्रकार **ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत एवं उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित** के भेद से प्रत्येक स्वर के नौ भेद हुए। ये नौ भेदों में से भी प्रत्येक के पुनः दो भेद होते हैं; अनुनासिक तथा अननुनासिक।

मुख और नासिका से जिस वर्ण का उच्चारण किया जाता है वह अनुनासिक कहलाता है–अं, इं, ऊं आदि। इस प्रकार अ इ उ ऋ इन वर्णों में से प्रत्येक के अठारह भेद हुए। लृ वर्ण के केवल बारह भेद होते हैं क्योंकि उसका दीर्घ रूप नहीं होता। ए ओ ऐ औ के भी बारह भेद होते हैं क्योंकि उनके ह्रस्व रूप नहीं होते।

सवर्ण संज्ञक वर्ण–जिस वर्ण का तालु आदि उच्चारण स्थान और आभ्यन्तर प्रयत्न ये दोनों विशेषताएँ वर्ण के उच्चारण स्थान तथा आभ्यन्तर प्रयत्न के समान हों, वे वर्ण परस्पर सवर्ण संज्ञक होते हैं। ऋ और लृ वर्ण परस्पर सवर्ण होते हैं।

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

2.4 संज्ञा प्रकरण–'हलन्त्यम्' सूत्र से 'सुप्तिङन्तं पदम्' सूत्र पर्यन्त

पाणिनि-विरचित व्याकरण के नियमों को समझने के लिए सर्वप्रथम उन संज्ञाओं को जानना अनिवार्य है जो पाणिनीय व्याकरण का आधार हैं। अतः लघुसिद्धान्त कौमुदी के आधार पर माहेश्वर सूत्रों की व्याख्या के पश्चात् अब सूत्रों के आधार पर संज्ञाओं का विवरण प्रस्तुत किया जाता है।

2.4.1 इत् संज्ञा

हलन्त्यम् (1. 3. 3.)

इस सूत्र पर वृत्ति करते हुए लघुसिद्धांत कौमुदी में वरदराज कहते हैं–**'उपदेशेऽन्त्यं हल इत् स्यात्, उपदेश आद्योच्चारणम्।'** अर्थात् **उपदेश** में अन्तिम व्यञ्जन (हल्) **इत्संज्ञक** होता है। वरदराज की वृत्ति में प्रयुक्त कतिपय शब्दों की व्याख्या की आवश्यकता है।

वृत्ति में **उपदेश** का अर्थ **आद्य** उच्चारण किया गया है। पाणिनि, कात्यायन, तथा पतञ्जलि इन तीन व्याकरणाचार्यों (त्रिमुनि) के आदि उच्चारणों को उपदेश कहते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि पाणिनि ने अपने व्याकरण की रचना के समय**धातु-सूत्र-गणोणादि-वाक्य-लिङ्गानुशासनम्। आगम-प्रत्ययादेश उपदेशाः प्रकीर्तिताः।।**

धातु, सूत्र, गण, उणादि, लिङ्गानुशासन, आगम, प्रत्यय और आदेश का जो प्रथम उच्चारण किया उसे **उपदेश** कहते हैं। इस व्याख्यान के अनुसार माहेश्वर सूत्रों का आद्य उच्चारण अर्थात् रचना उपदेश है। क्योंकि माहेश्वर सूत्रों की रचना में **हल्** (व्यञ्जन) अन्तिम है अतः **इत्संज्ञक** कहलाता है। तदनुसार इन **सूत्रों** के अन्तिम हल्–ण् क् ट् श् इत्यादि वर्ण इत् कहलाते हैं।

माहेश्वर सूत्रों के अन्तिम हल् (व्यञ्जन) को इत्संज्ञक बताया गया है। परन्तु इत् संज्ञा का अर्थ क्या है? इत् किसे कहते हैं? जिस वर्ण की इत्संज्ञा की जाती है, वह वर्ण केवल विशेषता प्रकट करने के लिए ही प्रयुक्त किया जाता है या प्रत्याहार आदि बनाने के लिए उसका उपयोग है? वस्तुतः इस इत्संज्ञकवर्ण (ण् क् ट् इत्यादि) की स्थिति सूत्र में प्रयुक्त अन्य सामान्य वर्णों (यथा अ इ उ आदि) के समान नहीं होती और उसका प्रयोग भी सामान्य वर्णों की भांति सर्वत्र नहीं होता। सूत्रों में गिनाये गये व्यञ्जनों ह य व र ल ञ म इत्यादि में इत्संज्ञक वर्णों का समावेश नहीं है।

2.4.2 लोप संज्ञा

वस्तुतः सामान्य वर्णों से भिन्न इत्संज्ञक वर्ण का लोप माना जाता है। इस संबंध में पाणिनि का निम्नलिखित सूत्र है–

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

तस्य लोपः (1.3.9.)

इस सूत्र पर वृत्ति करते हुए श्री वरदराज कहते हैं–**''तस्य इतः लोपः स्यात्''** अर्थात् उस **इत्संज्ञक वर्ण** का लोप हो। इसका अभिप्राय यह है कि सामान्य वर्णों से भिन्न इत्संज्ञक वर्ण का लोप माना जाता है। यहाँ पर लोप शब्द विनाश के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है, अपितु एक विशेष पारिभाषिक अर्थ में आया है जो पाणिनि के निम्नलिखित सूत्र से स्पष्ट है–

अदर्शनं लोपः (1. 1.60.)

वृत्ति–प्रसक्तस्यादर्शनं लोपसंज्ञं स्यात्।

प्रसंग आने पर जो विद्यमान हो उसके **अदर्शन** (दर्शन के अभाव) को लोप कहते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि **ण् क् ट्** इत्यादि जो इत्संज्ञक वर्ण प्रसंग आने पर उपस्थित रहते हैं, सामान्य वर्णों में गणना के विचार से उनके अदर्शन (दर्शन के अभाव) को लोप कहते हैं। दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि **ण् क् ट्** इत्यादि इतसंज्ञक वर्ण प्रसंग आने पर विशेष इत्संज्ञक वर्णों के रूप में अवश्य उपस्थित रहते हैं, परन्तु उस विशेष रूप में उपस्थित होते हुए भी **ण् क् ट्** इत्यादि **सामान्य वर्णों** के रूप में उनका लोप अर्थात् उनके दर्शन का अभाव रहता है। अर्थात् सूत्रों में प्रयुक्त वर्णों का उल्लेख करते समय इन इत्संज्ञक वर्णों की गणना नहीं होती।

2.4.3 प्रत्याहार संज्ञा

इत्संज्ञक वर्णों के उपयुक्त परिचय के आधार पर, यहाँ इनकी सहायता से बनने वाले प्रत्याहारों के विषय में विचार किया जायेगा। इनकी सहायता से बनने वाले प्रत्याहारों की रचना के संबंध में पाणिनि ने निम्नलिखित सूत्र दिया है–

आदिरन्त्येन सहेता (1. 1. 71)

(आदिः अन्त्येन सह इता)

इस सूत्र में इत् प्रातिपदिक का तृतीय एकवचन **इता** रूप है, और **अन्त्येन** शब्द, जो तृतीया एकवचन में है, **इता** का विशेषण है। **अन्त्य** का अर्थ है 'अन्तिम' और **इत्** का अर्थ है 'इत्संज्ञक'। अतएव इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार हुआ–

माहेश्वर सूत्रों के अन्त में आने वाले अर्थात् **अन्त्य** (अन्तिम) इत्संज्ञक वर्ण के साथ मिलकर, इन सूत्रों का कोई वर्ण जब प्रत्याहार के आदि में रखा जाता है, तब वह अपना और अपने तथा इत्संज्ञक वर्ण के मध्य में आने वाले अन्य वर्णों का बोध कराता है। इसी अर्थ का व्याख्यान वरदराज ने इस सूत्र की वृत्ति में इस प्रकार किया है–**'अन्त्येनेता सहित आदिर्मध्यगानां स्वस्य च संज्ञा स्यात्। यथा–अण् इति अ इ उ वर्णानां संज्ञा।एवम् अक्, अच्, हल्, अल् इत्यादयः।'** अर्थात् अन्तिम इत्संज्ञक वर्ण के सहित आदि वर्ण मध्य में

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

आने वाले वर्णों का और अपना बोध कराता है। जैसे–अण् प्रत्याहार में इत्संज्ञक ण् के सहित आदि वर्ण **अ** मध्य में आने वाले वर्णों का (इ उ–का) तथा अपना (**अ** का) ज्ञान कराता है। इसी प्रकार **अक्, अच्, हल्, अल्** इत्यादि प्रत्याहार हैं।

श्री वरदराजाचार्य के व्याख्यान को और अधिक स्पष्ट करते हुए हम यह कह सकते हैं कि किसी भी माहेश्वर सूत्र के अन्तिम इत्संज्ञक-वर्ण से पहले इन सूत्रों का कोई भी वर्ण जोड़कर जो प्रत्याहार बनाया जाता है उस प्रत्याहार के आदि में आने वाला वर्ण न केवल अपना प्रतिनिधित्व करता है, अपितु अपने तथा इत्संज्ञक वर्ण के मध्य में आने वाले सब वर्णों का प्रतिनिधित्व करता है। उदाहरण के लिए प्रथम सूत्र के प्रथम वर्ण अ को प्रत्याहार के आदि में और चतुर्थ सूत्र के इत्संज्ञक वर्ण **च्** को प्रत्याहार के अन्त में रखकर जो **अच्** प्रत्याहार बनाया जाता है, उसमें यह **अ** वर्ण **अ** से **औ** तक के इत्संज्ञक वर्णों को छोड़कर सब स्वरों (अ इ उ ऋ, ए ओ, ऐ औ) का बोध कराता है। इसी प्रकार, पंचम सूत्र के प्रथम वर्ण 'ह' को प्रत्याहार के आदि में और चतुर्दश सूत्र के इत्संज्ञक वर्ण 'ल्' को अन्त में रखकर जो **हल्** प्रत्याहार बनाया जाता है, उसमें यह आदि वर्ण **ह्** से लेकर अन्तिम **ल्** तक के सब व्यंजनों का बोध कराता है। कुछ प्रत्याहारों **(अट्, शल्)** में हकार के समावेश की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए पाणिनि ने 'ह' को दो सूत्रों में दिया है। जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है, प्रत्याहार के आदि वर्ण से लेकर इत्संज्ञक से पूर्ववर्ती वर्ण तक, प्रत्याहार के द्वारा जिन वर्णों का बोध कराया जाता है, उनमें इत्संज्ञक वर्णों का समावेश नहीं होता है, क्योंकि इत्संज्ञक वर्णों का लोप माना जाता है। यथा–**अच्** प्रत्याहार के द्वारा **अ** से **औ** तक जिन स्वरों का बोध कराया जाता है, उनमें **ण् क् ङ्** आदि इत्संज्ञक वर्णों का समावेश नहीं है, क्योंकि इत्संज्ञक होने के कारण इनका लोप हो जाताहै।

उपर्युक्त प्रक्रिया के अनुसार पाणिनीय व्याकरण में बयालीस प्रत्याहार बनाए जाते हैं–**अच्, अट्, अल्, अश्, इक्, इच्, एङ्, एच्, ऐच्, हश्, हल्, यण्, अञ्, यर्, वल्, रल्, ङम्, झष्, झल्, जश्, खय्, खर्, चर्, शर्, शल्** इत्यादि।

2.4.4 ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत संज्ञा

वर्णों के भेद–प्रत्याहारों के द्वारा वर्णों के जो विभिन्न वर्ग गिनाये गए हैं, उनमें से एक वर्ग स्वरों का है। अच् प्रत्याहार में सब स्वरों का समावेश है। स्वरों के उच्चारण में जो काल लगता है उसके अनुसार पाणिनि ने इनके तीन भेद किए हैं और उन भेदों के संबंध में निम्नलिखित सूत्र दिया गया है–

ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः (1.2.27)

(ऊकालः । अच् । ह्रस्वदीर्घप्लुतः)

उपर्युक्त ऊ में तीन प्रकार के स्वर सन्निहित हैं=उ, ऊ, ऊ 3। प्रथम स्वर उ ह्रस्व है, द्वितीय उ दीर्घ है और तृतीय ऊ 3 प्लुत है। इन तीन प्रकार के उकारों के उच्चारण-काल के सदृश जिस अच् (स्वर) का

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

उच्चारण काल हो, वह क्रमशः ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत कहलाता है। अभिप्राय यह है कि जैसे उकार के उच्चारण-काल के अनुसार ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत तीन भेद होते हैं, वैसे ही अकार इकार इत्यादि में भी उच्चारण-काल के अनुसार तीन भेद बनते हैं (अ, आ, आ 3 इत्यादि)। जिसके उच्चारण में **एक मात्रा** का काल लगे वह **ह्रस्व**, जिसके उच्चारण में **दो मात्रा** का काल लगे वह **दीर्घ** और जिसके उच्चारण में **तीन मात्रा** का काल लगे वह **प्लुत** कहलाता है।

वरदराज ने इस सूत्र पर इस प्रकार वृत्ति की है–**''उश्च ऊश्च ऊ3श्च वः। वां काल इव कालो यस्य सोऽच् क्रमात् ह्रस्वदीर्घप्लुतसंज्ञः स्यात्।''** उ, ऊ, और ऊ 3 इन तीनों का प्रथम बहुवचन 'वं' हुआ, और षष्ठीबहुवचन **वाम्**। इन तीनों उकारों के उच्चारण-काल के सदृश जिस अच् (स्वर) का उच्चारणकाल हो, वह अच् (स्वर) क्रमशः ह्रस्व दीर्घ तथा प्लुत संज्ञा वाला हो।

2.4.5 उदात्त-अनुदात्त-स्वरित संज्ञा

वेदों में **उदात्त**, **अनुदात्त** तथा **स्वरित** के अनुसार स्वरों के तीन भेद होते हैं। इस विषय में वरदराज का कथन है–**''स प्रत्येकमुदात्तादिभेदेन त्रिधा।''** अर्थात् ''प्रत्येक अच् (स्वर) उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित के भेद से तीन प्रकार का होता है।'' उदात्तादि के ज्ञान के लिए वरदराज ने पाणिनीय व्याकरण के निम्नलिखित सूत्र उद्धृत किये हैं–

उच्चैरुदात्तः। (1.2.9)

तालु आदि स्थानों के ऊपर के भाग से जिस **अच्** (स्वर) का उच्चारण हो, वह **उदात्त** कहलाता है।

नीचैरनुदात्तः। (1.2.30)

तालु आदि स्थानों के नीचे के भाग से जिस अच् का उच्चारण हो, **अनुदात्त** कहलाता है।

समाहारः स्वरितः। (1.2.31)

जिस अच् के उच्चारण में उदात्तत्व तथा अनुदात्तत्व दोनों वर्णधर्मों का समाहार (मेल) हो, उसे **स्वरित** कहते हैं।

2.4.6 अनुनासिक संज्ञा

वरदराजाचार्य आगे कहते हैं–**''स नवविधोऽपि प्रत्येकमनुनासिकाननुनासिकत्वाभ्यां द्विधा।''** उपर्युक्त नौ प्रकार का प्रत्येक अच् अनुनासिकत्व और अननुनासिकत्व के भेद से दो प्रकार का होता है। इसका अभिप्राय यह है कि ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत के भेद से प्रत्येक अच् के तीन भेद हुए। इन तीनों भेदों में से उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित के भेद से प्रत्येक के तीन भेद हुए। इस प्रकार प्रत्येक अच् के नौ भेद हुए। इन नौ भेदों

© *Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi*

में से भी प्रत्येक के पुनः दो भेद हुए–अनुनासिक तथा अननुनासिक। अनुनासिक के लक्षण के संबंध में पाणिनीय सूत्र हैं–

मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः (1.1.8)

(मुखनासिकावचनः । अनुनासिकः)

वरदराज ने इस सूत्र पर वृत्ति देते हुए लिखा है–

"मुखसहितनासिकयोच्चार्यमाणो वर्णोऽनुनासिकसंज्ञः स्यात्।"

अर्थात् मुख और नासिका से जिस वर्ण का उच्चारण किया जाता है, वह **अनुनासिक** कहलाता है–जैसे अँ इँ उँ आँ ईँ ऊँ इत्यादि।

वर्णों के विभिन्न भेदों के विषय में व्याख्यान का निष्कर्ष देते हुए, वरदराज कहते हैं–**"तदित्थम्। अ इ उ ऋ एषां वर्णानां प्रत्येकम् अष्टादश भेदाः। लृवर्णस्य द्वादश तस्य दीर्घाभावात्। एचाम् अपि द्वादश, तेषां ह्रस्वाभावात्"** अर्थात् इस प्रकार अ इ उ ऋ इन वर्णों में से प्रत्येक वर्ण के अठारह भेद हुए। लृ वर्ण के केवल बारह भेद होते हैं, क्योंकि उसके दीर्घ का अभाव है अर्थात् दीर्घ लृ नहीं होता। ए ओ ऐ औ के भी बारह भेद होते हैं, क्योंकि उनके ह्रस्व रूप नहीं होते।

2.4.7 सवर्ण संज्ञा

पाणिनीय व्याकरण के निम्नलिखित सूत्र में सवर्णसंज्ञक वर्णों की परिभाषा देते हुए कहा गया है–

तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् । (1.1.9.)

वरदराजाचार्य इस पर वृत्ति करते हुए कहते हैं–**'ताल्वादिस्थानम् आभ्यन्तरप्रयत्नश्च इति एतद् द्वयं यस्य येन तुल्यं तत् मिथः सवर्ण संज्ञं स्यात्।'** अर्थात् जिस वर्ण का तालु आदि उच्चारण-स्थान और आभ्यन्तर प्रयत्न ये दोनों विशेषताएँ अन्य वर्ण के उच्चारण-स्थान तथा आभ्यन्तर प्रयत्न के समान हों, वे वर्ण परस्पर **सवर्णसंज्ञक** होते हैं। **ऋ** और **लृ** का सावर्ण्य उपर्युक्त सूत्र से सिद्ध नहीं होता, अतएव इस संबंध में निम्नलिखित वार्त्तिक है–

"ऋलृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्।" अर्थात्, ऋ और लृ वर्णों को परस्पर **सवर्ण** कहना चाहिए।

उच्चारण-स्थान– वर्णों के उच्चारण-स्थान के संबंध में वरदराज लिखते हैं–**"अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः। इचुयशानां तालुः। ऋटुरषाणां मूर्धा। लृतुलसानां दन्ताः। उपूपध्मानीयानामोष्ठौ। ञमङणनानां नासिका च। एदैतोः कण्ठतालु। ओदौतोः कण्ठोष्ठम्। वकारस्य दन्तोष्ठम्। जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम्। नासिकानुस्वारस्य।"** अर्थात्–"अकार, कवर्ग (क् ख् ग् घ् ङ्), ह् और विसर्ग का उच्चारण-स्थान **कण्ठ** है। इकार, चवर्ग (च् छ् ज् झ् ञ्), **य्** तथा **श्** का उच्चारण-स्थान **तालु** है। ऋकार, टवर्ग (ट् ठ् ड् ढ् ण्) **र्**

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

तथा **ष्** का उच्चारण स्थान **मूर्धा** है। **लृ,** तवर्ग (त् थ् द् ध् न्), **ल्** तथा **स्** का उच्चारण-स्थान **दन्त** है। उकार, **पवर्ग** (प् फ् ब् भ् म्) तथा उपध्मानीय (≍ प्, ≍ फ्) का उच्चारण-स्थान **ओष्ठ** है। ञ् म् ङ् ण् न् का उच्चारण-स्थान अपने-अपने वर्गों के मुख स्थान (तालु, ओष्ठ, कण्ठ, मूर्धा, दन्त) के अतिरिक्त **नासिका** भी होता है। ए, ऐ का उच्चारण-स्थान **कण्ठतालु** है। ओ, औ का उच्चारण-स्थान **कण्ठोष्ठ** है। वकार का उच्चारण-स्थान **दन्तोष्ठ** है। जिह्वामूलीय (≍क्≍ ख्) का उच्चारण-स्थान **जिह्वामूल** है और **अनुस्वार** (ं) का उच्चारण-स्थान नासिका है।

प्रयत्न

वर्णों के उच्चारण काल में जो शारीरिक यत्न होते हैं उनके विषय में वरदराज का कथन है–**''यत्नो द्विधा। आभ्यन्तरो बाह्यश्च। आद्यः पञ्चधा स्पृष्टेषत्स्पृष्टेषद्विवृतविवृतसंवृतभेदात्, तत्र स्पृष्टं प्रयत्नं स्पर्शानाम्। ईषत्स्पृष्ट मन्तस्थानाम्। इषद्विवृतमूष्मणाम्। विवृतं स्वराणाम्। ह्रस्वस्यावर्णस्य प्रयोगे संवृतम् प्रक्रिया-दशायां तु विवृतमेव।** अर्थात् यत्न दो प्रकार का होता है–आभ्यन्तर (जो मुख के अन्दर होता है) और बाह्य (जो मुख से बाहर होता है।) पहले अर्थात् आभ्यन्तर प्रयत्न के स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, ईषद्विवृत, विवृत तथा संवृत नामक पाँच भेद होते हैं। क् से म् तक के स्पर्श वर्णों का आभ्यन्तर प्रयत्न स्पृष्ट है। य् र् ल् व् इन अन्तस्थ-संज्ञक वर्णों का आभ्यन्तर प्रयत्न ईषत्स्पृष्ट है। श् ष् स् ह् इन ऊष्म वर्णों का आभ्यन्तर प्रयत्न ईषद्विवृत है। स्वरों का आभ्यन्तर प्रयत्न विवृत है। ह्रस्व अकार का आभ्यन्तर प्रयत्न सामान्य प्रयोग में संवृत है, परन्तु व्याकरण की प्रक्रिया की दशा में इसका प्रयत्न भी विवृत ही माना जाता है।

बाह्य प्रयत्नों के विषय में वरदराजाचार्य का कथन है–**''बाह्यप्रयत्नस्त्वेकादशधा-विवारः संवारः श्वासो नादो घोषोऽघोषोऽल्पप्राणो महाप्राण उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितश्चेति। खरो विवाराः श्वासा अघोषाश्च। हशः संवारा नादा घोषाश्च। वर्गाणां प्रथमतृतीयपञ्चमयणश्चाल्पप्राणाः वर्गाणां द्वितीयचतुर्थौ शलश्च महाप्राणाः।''** अर्थात्-बाह्य प्रयत्न ग्यारह प्रकार का होता है- विवार, संवार, श्वास, नाद, घोष, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित। खर् प्रत्याहार के वर्णों (वर्गों के प्रथम, द्वितीय वर्ण तथा श् ष् स्) का प्रयत्न विवार, श्वास तथा **अघोष** है। हश् प्रत्याहार के वर्णों (वर्गों के तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम वर्ण तथा ह् य् व् र्) प्रयत्न संवार, नाद तथा घोष है। वर्गों के प्रथम, तृतीय तथा पञ्चम वर्ण और य् व् र् ल् अल्पप्राण हैं और वर्गों के द्वितीय तथा चतुर्थ वर्ण और श् ष् स् ह् महाप्राण हैं।''

अन्य उपयोगी संज्ञाएँ–वरदराज ने लघुसिद्धान्तकौमुदी के संज्ञा-प्रकरण में जिन अन्य उपयोगी संज्ञाओं का व्याख्यान किया है, वे निम्नलिखित हैं–

2.4.8 सन्धि या संहिता संज्ञा

इस विषय में पाणिनि का सूत्र है–

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

परः सन्निकर्षः संहिता। (1.4.109)

वरदराज इस पर वृत्ति करते हुए कहते हैं–**''वर्णानाम् अतिशयितः सन्निधिः संहितासंज्ञः स्यात्''**–वर्णों की अत्यन्त समीपता को संहिता कहते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि उच्चारण के समय वर्णों की जो अधिकाधिक समीपता हो सकती है उसे व्याकरण शास्त्र में **संहिता** या **सन्धि** कहते हैं।

2.4.9 संयोग संज्ञा

संयोग-संज्ञक व्यञ्जनों के विषय में पाणिनि कहते हैं–

हलोऽनन्तराःसंयोगः। (1.1.7)

इस सूत्र पर वृत्ति करते हुए वरदराजाचार्य कहते हैं–**''अज्भिरव्यवहिता हलः संयोगसंज्ञाः स्युः।''** अर्थात् जिन हलों (व्यञ्जनों) के बीच कोई **अच्** (स्वर) नहीं होता है, वे संयोग-संज्ञक होते हैं। जैसे बुद्धि में द्ध (द्+ध्) संयुक्त वर्ण है।

2.4.10 पद संज्ञा

व्याकरण-शास्त्र में प्रयुक्त पद-संज्ञा के विषय में पाणिनि का सूत्र है–

सुप्तिङन्तं पदम् (1.4.14)

इस सूत्र पर वृत्ति करते हुए आचार्य वरदराज का कथन है–

''सुबन्तं तिङन्तं च पदसंज्ञं स्यात्।'' अर्थात् जिसके अन्त में सुप् प्रत्याहार या **तिङ्** प्रत्याहार का कोई प्रत्यय आया हो, उस **सुबन्त** तथा **तिङन्त** शब्द को व्याकरण शास्त्र में **पद** कहते हैं। **सुप्** तथा **तिङ्** प्रत्याहार के प्रत्ययों का ज्ञान आगामी प्रकरणों में कराया जाएगा। संक्षेपतः **सु औ जस्** इत्यादि सर्वनामादि में लगने वाले प्रत्यय को **सुप्** संज्ञा और **ति तस्** इत्यादि धातुओं में लगने वाले प्रत्ययों को तिङ् कहते हैं।

2.5 सारांश

प्रिय छात्रो! इस पाठ में आपने सर्वप्रथम चौदह माहेश्वर सूत्रों के माध्यम से संस्कृत वर्णमाला का सूक्ष्म अध्ययन किया। साथ ही वर्णमाला में ही समाहित प्रत्याहारों को समझा; जिनका पदे-पदे पाणिनीय व्याकरण में प्रयोग होता है। चौदह प्रत्याहारसूत्रों के तात्पर्यार्थ को समझने के उपरान्त आपने व्याकरणशास्त्रोपयोगी विविध संज्ञाओं को समझा। प्रत्याहार निर्माण की प्रक्रिया को **'आदिरन्त्येन सहेता'** सूत्र द्वारा सरलतापूर्वक समझाया गया। सभी स्वरों के भेदों को विस्तारपूर्वक समझाया गया है। साथ ही इत् संज्ञा, लोप संज्ञा, सवर्ण संज्ञा, अनुनासिक एवं पद आदि संज्ञाओं का भी ज्ञान प्राप्त किया।

© *Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi*

2.6 शब्दावली

प्रत्याहार – संक्षेप, किसी बात को कम शब्दों द्वारा प्रकट करना प्रत्याहार कहलाता है।

अच् – 'अच्' प्रत्याहार के अन्तर्गत सभी स्वर समाहित हैं।

हल् – 'हल्' में सभी व्यञ्जन समाहित हैं।

लोप – लोप का अर्थ है लुप्त हो जाना। लोप संज्ञा को 'अदर्शनं लोपः' सूत्र से स्पष्ट किया है। जो पहले प्राप्त हो और उसका बाद में दिखाई न देना लोप कहलाता है।

ह्रस्व – जिसके उच्चारण में एक मात्रा का समय लगे, वह ह्रस्व वर्ण कहलाता है।

दीर्घ – जिसके उच्चारण में दो मात्रा का समय लगे, उसे दीर्घ वर्ण कहते हैं।

प्लुत – जिसके उच्चारण में तीन मात्रा का समय लगे, उसे प्लुत वर्ण कहते हैं।

सवर्ण – जिन वर्णों के उच्चारण स्थान तथा आभ्यन्तर प्रयत्न समान होते हैं, वे वर्ण परस्पर सवर्ण संज्ञक होते हैं। यथा–अ और आ वर्ण परस्पर सवर्ण होते हैं।

उच्चारण स्थान – जिस वर्ण को बोलने में मुख के अन्दर के जिस भाग का स्पर्श होता है, वह कण्ठ, तालु आदि भाग ही उस वर्ण का उच्चारण स्थान है।

2.7 सन्दर्भ–ग्रन्थ

- ***लघुसिद्धान्तकौमुदी***, चन्द्रकला नामक हिन्दी व्याख्या, डॉ. अर्कनाथ चौधरी, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर, 2001
- ***लघुसिद्धान्तकौमुदी***, धरानन्द शास्त्री, मूल एवं हिन्दी व्याख्या, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2003
- ***लघुसिद्धान्तकौमुदी*** (भैमी व्याख्या), भीमसेन शास्त्री, प्रथम भाग, भैमी प्रकाशन, दिल्ली, 1983।
- ***लघुसिद्धान्तकौमुदी***, प्रकाशिका नाम्नी हिन्दी व्याख्या, सत्यपाल सिंह, शिवालिक पब्लिकेशन, दिल्ली, 2014
- शर्मा 'ऋषि', डॉ. उमाशंकर–***संस्कृत साहित्य का इतिहास***, चौखम्भा भारती अकादमी, वाराणसी, 2014

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

2.8 अभ्यास प्रश्न

1. निम्नलिखित सूत्रों की उदाहरण सहित व्याख्या करें–

   (क) मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः।

   (ख) तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्।

   (ग) सुप्तिङन्तं पदम्।

2. 'हलन्त्यम्' सूत्र को सोदाहरण स्पष्ट करें एवं 'उपदेश' पद पर विशेष रूप से प्रकाश डालें।

3. प्रत्याहार निर्माण विधि को उदाहरण सहित समझाइए।

4. प्रयत्न से क्या तात्पर्य है? विवचेना कीजिए।

5. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए–

   (क) हल् के अन्तर्गत सभी .... समाहित हैं।

   (ख) प्रत्याहार सूत्रों की संख्या .... है।

   (ग) जश् प्रत्याहार में .... आते हैं।

   (घ) पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि को .... कहा जाता है।

   (ङ) अनुनासिक वर्ण .... से बोले जाते हैं।

   (च) जिन हलों के मध्य कोई .... नहीं होता, वे संयोग संज्ञक कहलाते हैं।

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

पाठ–3 इकाई-II

लघुसिद्धान्तकौमुदी

सन्धि प्रकरण : अच् सन्धि–यण्, अयादि, गुण, वृद्धि, पररूप, दीर्घ, पूर्वरूप एवं प्रकृतिभाव सन्धि

संरचना

3.1 उद्देश्य
3.2 प्रस्तावना
3.3 अच् सन्धि–**'इकोयणचि'** सूत्र से **'ऋत्यक:'** सूत्र पर्यन्त
- 3.3.1 यण् सन्धि
- 3.3.2 अयादि सन्धि
- 3.3.3 गुण सन्धि
- 3.3.4 वृद्धि सन्धि
- 3.3.5 पररूप सन्धि
- 3.3.6 सवर्ण-दीर्घ सन्धि
- 3.3.7 पूर्वरूप सन्धि
- 3.3.8 प्रकृतिभाव सन्धि

3.4 सारांश
3.5 शब्दावली
3.6 सन्दर्भ-ग्रन्थ
3.7 अभ्यास प्रश्न

3.1 उद्देश्य

इस पाठ को पढ़ने के उपरान्त आप–

- सन्धि की परिभाषा से परिचित होंगे।
- अच् अर्थात् स्वर सन्धि के उपभेद स्वरूप यण्, अयादि, गुण, वृद्धि, दीर्घ आदि में सन्धि व सन्धिविच्छेद के नियमों को समझ पाएँगे।

© *Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi*

- षष्ठी एवं सप्तमी विभक्ति के निर्देश से जो कार्य होगा, वह वस्तुतः कौन-से स्थान पर होना है, यह जान पाएँगे।
- 'स्थानेऽन्तरतमः' सूत्र में निहित सदृशतम् के तात्पर्य से अवगत होंगे।
- एक स्थानी के स्थान पर एक से अधिक आदेशों की प्राप्ति हो तो उसकी क्या व्यवस्था रहेगी, यह समझेंगे।
- **'पूर्वत्रासिद्धम्'** सूत्र में निहित सपादसप्ताध्यायी तथा त्रिपादी के गूढ़ार्थ को समझ सकेंगे।
- विविध सूत्रों के प्रसंग में समाविष्ट वार्तिकों के अर्थ को समझ पाएँगे।

3.2 प्रस्तावना

पिछले पाठ में हमने आपको पाणिनीय व्याकरण की कतिपय महत्त्वपूर्ण संज्ञाओं एवं प्रत्याहारों का परिचय कराया था। अब आपको संधि का ज्ञान कराया जाएगा। सन्धि-प्रकरण में उन संज्ञाओं के ज्ञान की आवश्यकता पड़ेगी जो पिछले पाठ में बतायी जा चुकी हैं। उनके अतिरिक्त कुछ अन्य संज्ञाओं के ज्ञान की भी आवश्यकता होगी, जिनका परिचय अवसर पड़ने पर साथ-साथ ही कराया जाएगा।

जैसा कि पिछले पाठ में दर्शाया जा चुका है **परः सन्निकर्षः संहिता** अर्थात् वर्णों की अत्यन्त समीपता को संहिता अथवा सन्धि कहते हैं।

संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः।
नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते।।

परन्तु सन्धि कहां-कहां करनी चाहिए, इस विषय में कहा गया है कि सन्धि (1) पद में नित्य करनी चाहिए। (2) धातु एवं उपसर्ग के योग में सन्धि नित्य करनी चाहिए। (3) समास में सन्धि नित्य करनी चाहिए (4) परन्तु वाक्य प्रयोग के समय में लेखक अथवा वक्ता की इच्छा पर निर्भर है कि वह सन्धि करे या न करे। तथापि, वाक्य प्रयोग की स्थिति में यदि संधि का स्थान है और वाक्य प्रयोक्ता वहाँ सन्धि नहीं करता है तो वह प्रयोग शास्त्रीय दृष्टि से तो शुद्ध प्रयोग होगा, किन्तु विद्वानों की दृष्टि से उचित नहीं माना जायेगा। यहाँ पर यह तथ्य ध्यान में रखना आवश्यक है कि लघुसिद्धान्तकौमुदी में सन्धि के निम्नलिखित तीन भेद किए गए हैं-(1) अच्-सन्धि (2) हल्-सन्धि (3) विसर्ग-सन्धि।

3.3 अच् सन्धि–'इकोयणचि' सूत्र से 'ऋत्यकः' सूत्र पर्यन्त

अचों अर्थात् स्वरों के बीच होने वाली सन्धि को **अच्-सन्धि** कहते हैं। अच्-सन्धि के निम्नलिखित उपभेद किए जाते हैं-**(क) यण्-सन्धि (ख) अयादि-सन्धि (ग) गुण-सन्धि (घ) वृद्धि-सन्धि**

© *Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi*

(ङ) पररूप-सन्धि (च) सवर्ण-दीर्घ-सन्धि (छ) पूर्वरूप-सन्धि (ज) प्रकृतिभाव-सन्धि। सर्वप्रथम हम यण् सन्धि के विषय में चर्चा करेंगे।

3.3.1 यण् सन्धि

इस सन्धि के विषय में पाणिनि ने निम्नलिखित सूत्र बनाया है–

इको यणचि (6.1.77)

(इकः। यण्। अचि)

इस सूत्र के तीनों पद तीन प्रत्याहार हैं–**इक् यण्** एवं **अच्**। सूत्र में इक् का षष्ठी एकवचन इकः, यण् का प्रथमा एकवचन **यण्** और **अच्** का सप्तमी एकवचन **अचि** रूप प्रयुक्त किया गया है। इस सूत्र पर वृत्ति करते हुए **वरदराज** कहते हैं–**''इकः स्थाने यण् स्यात् अचि संहितायां विषये।''** अर्थात् सन्धि के विषय में, **इक्** प्रत्याहार के वर्णों के स्थान पर यण् प्रत्याहार के वर्ण हों, यदि **इक्** प्रत्याहार के किसी वर्ण से परे **अच्** प्रत्याहार का कोई वर्ण हो। (यदि पूर्व पद के अन्त में इक् प्रत्याहार का वर्ण हो और उत्तरपद के प्रारम्भ में अच् प्रत्याहार का कोई वर्ण हो तो इक् प्रत्याहार के वर्ण के स्थान पर यण् प्रत्याहार का वर्ण आयेगा)।

अब यह प्रश्न उठता है कि सप्तमी विभक्ति के रूप **अचि** का यहाँ पर कैसा व्याख्यान करना चाहिए। इस संबंध में वरदराज पाणिनीय व्याकरण का निम्नलिखित सूत्र उद्धृत करते हैं-

तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य। (1.1.66)

(तस्मिन्। इति निर्दिष्टे। पूर्वस्य)

इस पर वृत्ति करते हुए वरदराज कहते हैं–**''सप्तमी-निर्देशेन विधीयमानं कार्यं वर्णान्तरेणाव्यवहितस्य पूर्वस्य बोध्यम्।''** अर्थात्–''सप्तमी विभक्ति के निर्देश के द्वारा जिस कार्य का विधान किया जा रहा हो, वह कार्य उस वर्ण का होता है जो वर्ण सप्तमीनिर्दिष्ट वर्ण से ठीक पूर्व हो और जिसके बीच में कोई अन्य वर्णन आता हो।'' इस परिभाषा के अनुसार, **अच्** वर्ण से ठीक पूर्व, अन्य से अव्यवहित, जो **इक्** वर्ण हो, उसी को उपर्युक्त सन्धि-कार्य होगा। उदाहरण के लिए सुधी+उपास्यः में सुधी के ई को यण् होगा क्योंकि उपास्यः के 'उ' और सुधी के 'ई' के बीच अन्य कोई वर्ण नहीं है।

अब एक प्रश्न और उठता है कि उपर्युक्त सन्धि-नियम के अनुसार **इक्** प्रत्याहार के किस वर्ण के स्थान पर **यण्** प्रत्याहार का कौन-सा वर्ण हो। इसका समाधान करने के लिए वरदराज पाणिनीय व्याकरण का निम्नलिखित सूत्र उद्धृत करते हैं–

स्थानेऽन्तरतमः। (1.1.50)

यहाँ वरदराजाचार्य कहते हैं–**'प्रसंगे सति सदृशतम आदेशः स्यात्।'** अर्थात्–जब किसी वर्ण के स्थान पर किसी अन्य वर्ण की प्राप्ति (का प्रसंग) हो, तब उस वर्ण के स्थान पर आदेश के रूप में होने वाला

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

वर्ण ऐसा होना चाहिए जो (उच्चारण-स्थान, प्रयत्न इत्यादि की दृष्टि से) उसके सदृशतम हो अर्थात् सबसे अधिक उसके सदृश हो। परन्तु सादृश्य चार प्रकार का होता है–(1) **स्थानकृत (2) अर्थकृत (3) गुणकृत और (4) प्रमाणकृत।** सुधी+उपास्य: की सन्धि में सुधी के **ई** से परे उपास्य: का उ आने पर **इक्** प्रत्याहार के वर्ण **इकार** के स्थान पर **यण्** प्रत्याहार का कौन-सा वर्ण आए? यद्यपि इकार तथा यकार के बीच उच्चारण-स्थान का सादृश्य तो है, परन्तु प्रयत्न का सादृश्य नहीं है। इस अवस्था में क्या करना चाहिए? इसके समाधान के लिए वरदराज निम्नलिखित परिभाषा उद्धृत करते हैं–

''यत्रानेकविधमान्तर्यं तत्र स्थानत आन्तर्यं बलीय:'' अर्थात्–''जहाँ अनेक प्रकार का सादृश्य होता है, वहाँ उच्चारण स्थान का सादृश्य अधिक बलवान होता है।'' इस परिभाषा के अनुसार, **सुधी** के **ई** के स्थान पर **यण्** प्रत्याहार का य् वर्ण आयेगा, क्योंकि दोनों वर्णों में उच्चारण-स्थान (तालु) का सादृश्य है। इस प्रकार **सुधी+उपास्य:** का **सुध्य्+उपास्य:** बना।

सन्धि की इस अवस्था में पाणिनीय व्याकरण का निम्नलिखित सूत्र प्रयुक्त होता है–

अनचि च। (8.4.47)

इस सूत्र पर वृत्ति करते हुए श्री वरदराज कहते हैं–**'अच: परस्य यरो द्वे वा स्तो न त्वचि।'**

अर्थात्–**'अच्'** प्रत्याहार के किसी वर्ण से परे **यर्** प्रत्याहार के वर्ण को विकल्प से **द्वित्व** (एक को दो करना) हो जाता है, परन्तु यदि यर् प्रत्याहार के वर्ण से परे **अच्** प्रत्याहार का कोई वर्ण हो तो ऐसा द्वित्व नहीं होता है। इस नियम के अनुसार **सुध्य्+उपास्य:** में **सुध्य्** के **सु** के **उ** से परे **ध्य्** के **ध्** को विकल्प से द्वित्व होगा क्योंकि इस ध् से पूर्व सु का उ (अच्) है और बाद में य् है, कोई स्वर नहीं है। **सु ध् ध्य्+उपास्य:** ऐसा सिद्ध होने पर, अष्टाध्यायी का निम्नलिखित सूत्र उपस्थित होता है–

झलां जश् झशि। (8.4.53)

इसकी वृत्ति इस प्रकार है–**'झलां जश् स्यात् झशि परे। इति पूर्वधकारस्य द:'** अर्थात्–**झल्** प्रत्याहार के वर्ण के स्थान पर **जश्** प्रत्याहार का वर्ण हो यदि **झल्** प्रत्याहार के वर्ण से परे **झश्** प्रत्याहार का कोई वर्ण आए। सुध्धय् के एक ध् को झल् प्रत्याहार का तथा दूसरे ध् को झश् प्रत्याहार का वर्ण माना जायेगा। इस प्रकार **सुध्ध्य्+उपास्य:** के पूर्ववर्ती **ध्** के स्थान **द्** बन जाएगा इस प्रकृत सूत्र से। इस प्रकार **सुद्ध्य्+उपास्य:** सिद्ध होने पर अष्टाध्यायी का निम्नलिखित सूत्र प्रस्तुत हुआ–

संयोगान्तस्य लोप:। (8.2.23)

इस सूत्र पर निम्नलिखित वृत्ति है–

''संयोगान्तं यत् पदं तदन्तस्य लोप: स्यात्।''

© *Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi*

अर्थात्–'जिस पद के अन्त में **संयोग** (संयुक्त व्यञ्जन) हो, उस पद का लोप हो।' प्रथम पाठ में **संयोग** संज्ञा का लक्षण देते समय यह बताया गया था कि संयुक्त व्यञ्जनों के लिए **संयोग** संज्ञा का प्रयोग होता है। इस सूत्र के अनुसार **सुद्ध्य्+उपास्यः** में सुद्ध्य् पद का लोप हो, क्योंकि इसके अन्त में **द्ध्य्** संयोग है। परन्तु इस अवसर पर अष्टाध्यायी का निम्नलिखित सूत्र उपस्थित होता है–

अलोऽन्त्यस्य। (1.1.52)

इस सूत्र की वृत्ति इस प्रकार है–**"षष्ठीनिर्दिष्टोऽन्त्यादेशः स्यात्।"** अर्थात्–'षष्ठी विभक्ति के द्वारा निर्दिष्ट को जो आदेश किया जाता है, वह आदेश अन्तिम अल् (वर्ण) को हो।' इस परिभाषा-सूत्र के अनुसार, सम्पूर्ण **सुद्ध्य्** पद का लोप न होकर, इसके अन्तिम वर्ण य् का लोप प्राप्त होता है। किन्तु अन्तिम **य्** वर्ण के लोप की प्राप्ति होने पर निम्नलिखित वार्त्तिक इसका निषेध करता है–

यणः प्रतिषेधो वाच्यः।

अर्थात् उपर्युक्त सूत्र से **संयोगान्त** को जो लोप प्राप्त होता है, वह लोप यण् प्रत्याहार के वर्णों के विषय में प्रतिषिद्ध समझना चाहिए। अतएव **सुद्ध्य्** के अन्तिम संयुक्त वर्ण य् के लोप का प्रतिषेध होने पर **सुद्ध्युपास्यः** सिद्ध हुआ। 'अनचि च' सूत्र के द्वारा प्राप्त होने वाले 'ध्' के वैकल्पिक द्वित्व को न करने पर एक ध् वाला 'सुध्युपास्यः' रूप बना। इसी प्रकार, **मधु+अरिः** से **मद्ध्वरिः** या **मध्वरिः, धातृ+अंश** से **धात्त्रंशः** या **धात्रंशः** और **लृ+आकृतिः** से **लाकृतिः** सिद्ध होते हैं। अन्य उदाहरण हैं-यदि+अपि=यद्यपि, दधि+आनय=दध्यानय, वारि+अस्ति=वार्यस्ति,वधू+अलंकार=वध्वलंकारः, मातृ+आज्ञा =मात्राज्ञा।

3.3.2 अयादि सन्धि

अयादि-सन्धि के विषय में अष्टाध्यायी में निम्नलिखित सूत्र हैं–

एचोऽयवायावः। (6.1.78)

(एचः अय् अव् आय् आव्)

इस सूत्र की वृत्ति इस प्रकार है–**'एचः क्रमाद् अय् अव् आय् आव् एते स्युः अचि।'** अर्थात्–'एच् प्रत्याहार के वर्णों **(ए ओ ऐ औ)** के स्थान पर क्रमशः **अय् अव् आय् आव्** ये आदेश हों जब इनसे परे अच् प्रत्याहार का कोई वर्ण आए। संदेह के निवारण के लिए पाणिनीय व्याकरण का निम्नलिखित परिभाषा सूत्र इस प्रसंग में प्रस्तुत किया जाता है–

यथासंख्यमनुदेशः समानाम्। (1.3.10)

इस सूत्र की वृत्ति इस प्रकार है–**'समसम्बन्धी विधिर्यथासंख्यं स्यात्।'** 'समान संख्या से संबंध रखने वाली जो विधि की जाती है, वह संख्या के क्रम के अनुसार लागू हो अर्थात् पहले को पहला, दूसरे को दूसरा और तीसरे को तीसरा और चौथे को चौथा इत्यादि।' इस परिभाषा के अनुसार ए को अय्, ओ को

© *Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi*

अव्, ऐ को आय् और औ को आव् आदेश होता है, यथा–**हरे+ऐ** = **(हरय्+ए) हरये, विष्णो+ए** = **(विष्णव्+ए) विष्णवे, नै+अकः** = **(नाय्+अकः) नायकः, पौ+अकः** = **(पाव्+अकः) पावकः शे+अनम्** = **शयनम्, शे+इतः** = **शयितः, गे+अकः** = **गायकः, पो+अनः** = **पवनः, भो+अनम्** = **भवनम्, भौ+अकः** = **भावकः** आदि।

विशेष अपवाद–ऊपर के सूत्र में अच् परे रहते, एच् प्रत्याहार के वर्णों को अय् इत्यादि का आदेश किया गया है। परन्तु पाणिनीय व्याकरण के निम्नलिखित सूत्र के अनुसार यकारादि प्रत्यय (ऐसा प्रत्यय जो य से प्रारम्भ हो) परे रहते **ओ** को **अव्** आदेश होता है–

वान्तो यि प्रत्यये (6.1.79)

इस सूत्र की वृत्ति है–**'यकारादौ प्रत्यय परे ओदौतोरव् आव् एतौ स्तः।'** अर्थात्–यकारादि (जिसके प्रारम्भ में य है) प्रत्यय परे रहने पर, ओ को अव् और औ को आव् आदेश हो। जैसे–**गो+यम्=गव्+यम्=गव्यम्, नौ+यम=नाव्+यम्=नाव्यम्।** इस सम्बन्ध में आगे वार्त्तिक भी है–

अध्वपरिमाणे च।

इसका तात्पर्य यह है कि **गो** शब्द से परे यदि **यूति** प्रत्यय मार्ग की लम्बाई के अर्थ में आता हो, तो गो के **ओ** को **अव् आदेश** होता है जैसे–गो+यूतिः = गव्+यूतिः = गव्यूतिः 'दो कोस का अन्तर'।

3.3.3 गुण सन्धि

गुण–सन्धि का वर्णन करने से पूर्व गुण संज्ञा का परिचय देना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में अष्टाध्यायी का निम्नलिखित सूत्र है–

अदेङ्गुणः (1.1.2)

इस सूत्र पर वृत्ति करते हुए वरदराजाचार्य कहते हैं–'अत् एङ् च **गुणसंज्ञः** स्यात्' अर्थात्-(**अत्** = **ह्रस्व अकार**) और एङ् प्रत्याहार के वर्ण (ए ओ) की गुणसंज्ञा हो।' अब प्रश्न यह उठता है कि उपर्युक्त सूत्र में **अत्** का अर्थ ह्रस्व अकार कैसे हुआ। इस संबंध में पाणिनीय व्याकरण का नियम है–

तपरस्तत्कालस्य। (1.1.70)

इस सूत्र की वृत्ति इस प्रकार है–**''तः परो यस्मात् स च तात् परश्चोच्चार्यमाणः समकालस्यैव संज्ञः स्यात्''।** अर्थात्–''जिस **अच्** से परे तकार हो, वह **अच्** और तकार से परे जिसका उच्चारण किया जाता हो, वह अच् (ह्रस्व) उतने ही समय का बोधक हो।'' इसका अभिप्राय यह है कि ऐसा अच् अपना ही बोध कराता है और अन्य भेदों का बोध नहीं कराता है (गत पाठ में अचों के अनेक भेद ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत इत्यादि

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

बताये जा चुके हैं) अतएव उपर्युक्त सूत्र में अत् से केवल ह्रस्व अकार का बोध होता है, दीर्घ इत्यादि भेदों का नहीं।

गुण–सन्धि का विधान निम्नलिखित सूत्र से किया जाता है–

आद् गुणः। (6.1.87)

इस सूत्र पर वृत्ति है–**'अवर्णादचि परे पूर्वपरयोरेको गुण आदेशः स्यात्।** अर्थात्-अवर्ण (**अ आ**) से परे अच् (स्वर) आने पर, पूर्ववर्ती और परवर्ती दोनों अचों के स्थान पर एक गुण आदेश हो।'' जैसे-**उप+इन्द्रः** = **उपेन्द्र** (उप के अ कण्ठस्थानीय के बाद इन्द्रः का इ (तालुस्थानीय) दोनों के स्थान पर ए कण्ठतालुस्थानीय सदृशतम वर्ण आया) **गंगा+उदकम्** = **गंगोदकम्।** इन उदाहरणों में अ+इ के स्थान में **ए** और **अ+उ** के स्थान में **ओ** गुण एकादेश हुआ है। अन्य उदाहरण हैं–दिन+ईशः = दिनेशः, महा+इन्द्र = महेन्द्रः, सूर्य+उदय–सूर्योदयः, आत्म+उन्नति = आत्मोन्नति। परन्तु **अ आ** से परे **ऋ ऌ** आने पर कैसा **गुण** आदेश होता है? इसको समझाने के लिए निम्नलिखित सूत्र प्रस्तुत किए जाते हैं-

उपदेशेऽजनुनासिक इत् (1.3.2)

(उपदेशे। अच्। अनुनासिकः। इत्)

इसकी वृत्ति इस प्रकार है–**'उपदेशेऽनुनासिक अच् इत्-संज्ञः स्यात्।'** अर्थात्–जो अच् उपदेश में अनुनासिक है, वह इत्संज्ञक हो। (पिछले पाठ में उपदेश तथा **इत्संज्ञा** का व्याख्यान किया जा चुका है, उसे दोहराएँ) इसका अभिप्राय यह है कि जो अच् (सूत्र इत्यादि) उपदेश में अनुनासिक है वह इत्संज्ञक होता है। अब प्रश्न उठता है कि उपदेश में कौन सा अच् कहाँ अनुनासिक है? इसके उत्तर में यह कहा गया है–**'प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीयाः।'** अर्थात्–'पाणिनि के व्याकरण में कहाँ पर कौन सा अच् अनुनासिक है इसका ज्ञान केवल **प्रतिज्ञा** अर्थात् पाणिनीय व्याकरण की परम्परा के द्वारा ही होता है।'

इस परम्परा के अनुसार, षष्ठ माहेश्वर सूत्र लण् में ल् के साथ मिला हुआ **अ** अनुनासिक माना जाता है और इस कारण से अ इत्संज्ञक होता है। पंचम माहेश्वर सूत्र के **रेफ** के साथ **ल** के **इत्संज्ञकअण्** को जोड़कर जो **र** प्रत्याहार बनाया जाता है, वह **र** प्रत्याहार **र्** तथा **ल्** दोनों वर्णों का बोधक होता है (प्रत्याहारों की रचना के विषय में पिछले पाठ के नियमों को दोहराएँ) गुण-सन्धि के लिए उपयोगी निम्नलिखित सूत्र में र प्रत्याहार के आधार पर ''रपरः'' पद का व्याख्यान किया जाता है–

उरण् रपरः। (1.1.51)

(उः। अण्। रपरः)

इसकी वृत्ति इस प्रकार है–**''ऋ इति त्रिंशतः संज्ञा इति, उक्तम्। तत्स्थाने योऽण् स रपरः सन्नेव प्रवर्तते।''** अर्थात्–''यह पहले बताया जा चुका है (देखिए पिछला पाठ) कि **ऋकार** तथा **ऌकार** की

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

सवर्ण-संज्ञा होने के कारण से प्रथम माहेश्वर सूत्र का ऋ तीस भेदों का (अठारह ऋकार के और बारह लृकार के) बोधक हैं। ऋ के स्थान पर **अण्** प्रत्याहार का जो वर्ण आदेश के रूप में आता है, उससे परे **र** आवश्यक होता है।'' जैसा कि ऊपर समझाया जा चुका है इस सूत्र का **र** केवल रेफ का वाचक नहीं है, अपितु **र** प्रत्याहार का वाचक है, जिसके अनुसार यह **र** प्रत्याहार **र्** **ल्** का बोध कराता है। इसका अभिप्राय यह है कि जब ऋ के स्थान पर **अण्** प्रत्याहार का कोई वर्ण आदेश के रूप में आता है तो उस वर्ण से परे **रेफ** आवश्यक होता है, और **लृ** के स्थान पर आने वाले अण् से परे **लकार** अवश्य होता है। जैसे-कृष्ण+ऋद्धिः (कृष्ण+अर्+द्धिः) में अ+ऋ के गुण एकादेश **अ** से परे **र** आकर **अर्** बनता है। इसी प्रकार **तव+लृकारः** = **तवल्कारः** में **अ+लृ** के गुण एकादेश **अ** से परे **ल्** आकर **अल्** बनता है। सप्त+ऋषिः = सप्तर्षयः, ग्रीष्म+ऋतु = ग्रीष्मर्तुः।

अयादि-सन्धि के य् व् का वैकल्पिक लोप और गुणसन्धि का प्रसंग ऊपर (ख) भाग में जो अयादि-सन्धि समझाई गई है, उसमें प्राप्त **अय्, अव्, आय्** तथा **आव्** आदेश के अन्तिम **य् व् का वैकल्पिक लोप** करने वाला निम्नलिखित सूत्र उपस्थित होता है–

लोपः शाकल्यस्य। (8.3.19)

इस सूत्र की वृत्ति निम्नलिखित है–

''अवर्णपूर्वयोः पदान्तयोः यवयोः लोपः वा अशि परे।'' अर्थात्–जिस पदान्त **यकार** या **वकार** से पूर्व **अकार** हो और जिससे परे **अश्** प्रत्याहार का वर्ण हो, उसका **वैकल्पिक लोप** हो।'' जैसे–**हरे+इह** = **हरयिह** अथवा **हर इह**, (हरय् के य् से लोप) **विष्णो+इह** = **विष्णविह** अथवा **विष्ण इह**, (विष्णव् के व् का लोप)। **अस्मै+उद्धर** = **अस्मायुद्धर** अथवा **अस्मा उद्धर**, इत्यादि। ते+आगताः = त आगताः, तयागतः, ये+इह = य इह, ययिह, वने+ऋषयः = वन ऋषयः, वनयृषयः, विधौ+उदिते = विधा उदिते अथवा विधावुदिते। अब यह प्रश्न उठता है कि उपर्युक्त उदाहरणों में **य् व्** का वैकल्पिक लोप करने पर, **अ, आ** से परे **इ, उ** आने पर गुण-सन्धि का नियम क्यों न लागू किया जाए? इस प्रकार के उदाहरणों में गुण-सन्धि का प्रसंग उपस्थित होने पर पाणिनीय व्याकरण का निम्नलिखित सूत्र उपस्थित होता है–

पूर्वत्रासिद्धम् (8.2.1)

इस सूत्र की वृत्ति इस प्रकार है–**''सपादसप्ताध्यायी प्रति त्रिपादी असिद्धा, त्रिपाद्याम् अपि पूर्वं प्रति परं शास्त्रम् असिद्धम्।''** अर्थात्–''पाणिनिकृत अष्टाध्यायी के पहले सवासात अध्यायों (अर्थात् पहले सातों अध्यायों और आठवें अध्याय के प्रथम पाद) के प्रति आठवें अध्याय के अन्तिम तीन (अर्थात् द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ पाद) **असिद्ध** माने जाते हैं और त्रिपादी में (अर्थात् आठवें अध्याय के द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ पाद में भी) पूर्ववर्ती शास्त्र (विधान) के प्रति परवर्ती शास्त्र असिद्ध माना जाता है।'' इसका अभिप्राय यह है कि अष्टाध्यायी में कुल आठ अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में चार **पाद** हैं। इस प्रकार कुल 32 पाद हैं।

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

इन पादों में अन्तिम 3 पादों की एक विशेष स्थिति है। वह इस प्रकार है–यदि अन्तिम **तीनों पादों** (त्रिपादी) के किसी सूत्र के द्वारा कोई व्याकरण-कार्य पहले किया जा चुका हो और उसके पश्चात् पहले 29 **पादों** (सपादसप्ताध्यायी) का कोई सूत्र अपना व्याकरण-कार्य करने लगे, तो उस सूत्र की दृष्टि में त्रिपादी के सूत्र के द्वारा किया गया व्याकरण-कार्य असिद्ध है अर्थात् हुआ नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि सपादसप्ताध्यायी का सूत्र जब अपना कार्य करने लगता है तब वह त्रिपादी के द्वारा किए गए कार्य को असिद्ध (न किया हुआ) मानकर अपना कार्य करता है। उदाहरण के लिए त्रिपादी के सूत्र 'लोपः शाकल्यस्य' (8. 3. 19) ने उपर्युक्त उदाहरणों (**हर इह, विष्ण इह, अस्मा उद्धर**) में जब **म् व्** का वैकल्पिक लोप कर दिया, तब सपादसप्ताध्यायी के सूत्र ''आद्गुणः'' (6. 1. 87) से इनके **अ आ** के साथ **इ उ** की गुण-सन्धि हो जानी चाहिए थी परन्तु ऐसा नहीं हुआ और इन उदाहरणों में **अ आ** के साथ **इ उ** की गुण-सन्धि नहीं हुई, क्योंकि सपादसप्ताध्यायी के इस सूत्र की दृष्टि में **य् व्** का वह वैकल्पिक लोप असिद्ध है (अर्थात् हुआ ही नहीं है), जो त्रिपादी के सूत्र ने किया है। जब **य् व्** का लोप असिद्ध माना जाएगा, तो **अ आ** से परे **इ उ** नहीं, अपितु **य् व्** माना जाएगा। उस अवस्था में ऐसे उदाहरणों में गुण-सन्धि नहीं हो सकती। अतएव पाणिनीय व्याकरण के सूत्रों को लगाते समय 'पूर्वत्रासिद्धम्' को भी ध्यान में रखना चाहिए।

3.3.4 वृद्धि सन्धि

वृद्धि-सन्धि का व्याख्यान करने से पूर्व, **वृद्धि-संज्ञा** का परिचय देना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में पाणिनीय व्याकरण में निम्नलिखित सूत्र प्राप्त होता है–

वृद्धिरादैच्। (1.1.1)

इस सूत्र की वृत्ति इस प्रकार है–**'आत् ऐच् च वृद्धिसंज्ञः स्यात्'** अर्थात्–**आ** और **ऐच्** प्रत्याहार के वर्णों (ऐ औ) की वृद्धि-संज्ञा हो (**आ** से परे आने वाले त् के महत्त्व के संबंध में देखिए–पिछले पाठ में 'तपरस्तत्कालस्य' सूत्र का व्याख्यान)। इस प्रकार **आ ऐ औ** वृद्धिसंज्ञक हैं। जिस सन्धि में वृद्धि एकादेश हो उसे वृद्धि-सन्धि कहते हैं। इस सन्धि का विधान निम्नलिखित सूत्र में किया जाता है–

वृद्धिरेचि। (6.1.88)

(वृद्धिः। एचि।)

इस सूत्र की वृत्ति इस प्रकार है–**'आत् एचि परे वृद्धिः एकादेशः स्यात्। गुणापवादः।'** अर्थात् **अआ** से परे एच् प्रत्याहार (ए ओ ऐ औ) का कोई वर्ण आने पर पूर्ववर्ती तथा परवर्ती दोनों वर्णों के स्थान पर वृद्धि एकादेश होता है। यह नियम गुण का अपवाद है। उदाहरण के लिए, **कृष्ण+एकत्वम्** = **कृष्णैकत्वम्** में **अ+ए** के स्थान पर ऐ एकादेश, और **गंगा+औघः** = **गंगौघः** में **आ+ओ** के स्थान पर **औ** एकादेश हुआ है। इसी प्रकार **देव+ऐश्वर्यम्** = **देवैश्वर्यम्** और **कृष्ण+औत्कण्ठ्यम्** = **कृष्णौत्कण्ठ्यम्** इत्यादि सिद्ध होते हैं।

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

अन्य उदाहरण हैं-पञ्च+एतेत्रपञ्चैते, स्थूल+एण: = स्थूलैण:, महा+एन: = महैन:, मा+एवम् = मैवम्, सुख+औपयिकम् = सुखौपयिकम्।

पर–रूप और गुण के अपवाद में वृद्धि–

निम्नलिखित सूत्रों तथा वार्त्तिकों के द्वारा, **पर–रूप** और **गुण** के अपवाद में वृद्धि होती है (पर–रूप सन्धि के नियम आगे चलकर बताये जायेंगे)।

एत्येधत्यूठ्सु (6.1.89)

(एति एधति ऊठ्सु)

इस सूत्र पर वरदराज ने निम्नलिखित वृत्ति की है–

'अवर्णात् एजाद्योः तत्येधत्योः ऊठि च परे वृद्धिः एकादेशः स्यात्। पररूपगुणापवादः।' अर्थात्–**अ आ** से परे एजादि (एच् प्रत्याहार–ए ओ ऐ औ–का कोई वर्ण जिसके आदि में हो, ऐसा) **एति** (इ धातु का कोई रूप) तथा **एधति** (एध् धातु का कोई रूप), औ उठ् (आदेश) आने पर, पूर्ववर्ती और परवर्ती दोनों वर्णों के स्थान पर वृद्धि एकादेश होता है। यह नियम **पररूप** तथा **गुण** का अपवाद है। जैसे–**उप+एति** = **उपैति**, उप के प का अ तथा एति का ए मिलकर ऐ हुए, **उप+एधते** = **उपैधते**, **प्रष्ठ+ऊह** = **प्रष्ठौहः** (**प्रष्ठ+वह्** के **व्** के स्थान पर **ऊ** अर्थात् **ऊठ्** आदेश करने वाला नियम सुबन्त रूप में आता है। यहाँ पर केवल उस रूप में होने वाली सन्धि की विशेषता पर विचार किया जा रहा है।)।

अब यह प्रश्न उठता है कि वृत्ति में **'एजाद्योः'** क्यों कहा गया है? इसका उत्तर यह है कि जहाँ इ तथा एध् धातु का एजादि रूप अ आ से परे नहीं होता है, वहाँ यह सन्धि नहीं होती है, जैसे–**उप+इतः** (इ+क्त = धातु का क्तांत रूप) =**उपेतः** और **मा भवान् प्रेदिधत्** वाक्य में **प्र+इदिधत्** (एध् का णिजन्त का लुङ्) का **प्रेदिधत् रूप 'आद्गुणः'** से गुण होकर बना। अन्य उदाहरण हैं–अव+एति = अवैति+प्र+एति = प्रैति, प्र+एधते = प्रैधते, विश्व+ऊहः = विश्वौहः।

वार्त्तिक–**अक्षादूहिन्यामुपसंख्यानम्।**

(अक्षात्। ऊहिन्याम्। उपसंख्यानम्)

अर्थात्–'अक्ष शब्द से परे **ऊहिनी** शब्द आने पर वृद्धि एकादेश होता है। जैसे–**अक्ष+ऊहिनी=अक्षौहिणी**–'सेना'।

प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु।

अर्थात्–**'प्र शब्द से परे ऊह, ऊढ, ऊढि, एष तथा एष्य शब्द आने पर, वृद्धि एकादेश होता है।' जैसे–प्र+ऊहः–प्रौहः, प्र+ऊढः–प्रौढः, प्र+ऊढिः = प्रौढिः, प्र+एषः = प्रैषः, प्र+एष्यः = प्रैष्यः।**

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

ऋते च तृतीया समासे

अर्थात्–'तृतीया समास में पूर्वपद के अन्तिम अकार से परे **ऋत शब्द** हो, तो वृद्धि **एकादेश होता है।** जैसे-**सुख+ऋतः** = **सुखार्तः** (सुखेन ऋतः) सुख के अन्तिम अ तथा ऋत के आदि ऋ के स्थान पर वृद्धि एकादेश हुआ। 'उरण् रपरः' सूत्र से इस आ के बाद र् आकर आर् हुआ, सन्धि होकर रूप बना सुखार्तः। परन्तु तृतीया-समास के अभाव में यह नियम लागू नहीं होता है, जैसे-**परम+ऋतः** = **परमर्तः** (परमश्चासौ ऋतश्च)।

प्रवत्सतरकम्बलवसनार्णदशानामृणे।

अर्थात्–'**प्र, वत्सतर, कम्बल, वसन, ऋण** तथा **दश** शब्द से परे ऋण शब्द आने पर वृद्धि एकादेश होता है।' जैसे–**प्र+ऋणम्** = **प्रार्णम्, वत्सतर+ऋणम्** = **वत्सतरार्णम्, कम्बल+ऋणम्** = **कम्बलार्णम्, वसन+ऋणम्** = **वसनार्णम्, ऋण+ऋणम्** = **ऋणार्णम्, दश+ऋणम्** = **दशार्णम्।**

नोट–उपर्युक्त दो वार्त्तिकों के नियमों के उदाहरणों में पूर्ववर्ती पद के आकार से परे उत्तरवर्ती पद का आकार आने पर जो **आ** वृद्धि एकादेश होता है, उस आ से परे 'उरण् रपरः' **सूत्र** से र् आता है।

अकारान्त उपसर्ग और ऋकारादि धातु की सन्धि

अकारान्त उपसर्ग और ऋकारादि धातु के बीच होने वाली सन्धि का व्याख्यान करने से पूर्व उपसर्ग तथा धातु संज्ञा का लक्षण देना आवश्यक है। उपसर्गों के संबंध में निम्नलिखित पाणिनीय सूत्र उपयोगी हैं–

उपसर्गाः क्रियायोगे। (1.4.59)

इस पर वृत्ति इस प्रकार है–"**प्रादयः क्रियायोगे उपसर्गसंज्ञाः स्युः।**"

अर्थात्–क्रिया के योग में **प्र, पराइत्यादि उपसर्ग संज्ञक हों।प्र** इत्यादि निम्नलिखित उपसर्ग हैं–प्र, परा, अप, सम्, अनु, अव, निस्, निर्, दुस्, दुर्, वि, आङ्, नि, अधि, अपि, अति, सु, उद्, अभि, प्रति, परि, उप।

धातु संज्ञा के सम्बन्ध में निम्नलिखित सूत्र ज्ञातव्य हैं–

भूवादयो धातवः (1.3.1)

इस पर वृत्ति करते हुए वरदराजाचार्य कहते हैं–'क्रियावाचिनो भ्वादयो धातु-संज्ञाः स्युः।' अर्थात् 'क्रिया को प्रकट करने वाले भ्वादि (भ्वादि, अदादि, जुहोत्यादि, दिवादि, स्वादि, तुदादि, रुधादि, तनादि, क्रयादि, तथा चुरादि आदि दस गण) धातुसंज्ञक हों।'

अकारान्त उपसर्ग और ऋकारादि धातु के बीच सन्धि के लिए निम्नलिखित सूत्र दिया गया है–

उपसर्गादृति धातौ। (6.1.91)

(उपसर्गात्। ऋति। धातौ)

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

इस पर वृत्ति है–**'अवर्णान्तात् उपसर्गात् ऋ कारादौ धातौ परे वृद्धिः एकादेशः स्यात्।'** अर्थात्–अकारान्त उपसर्ग से परे ऋकारादि धातु आने पर वृद्धि एकादेश होता है।' जिस उपसर्ग का अन्तिम वर्ण अ हो, यदि उसके बाद ऋ से आरम्भ होने वाली धातु आए तो दोनों वर्णों (अ तथा ऋ) के स्थान पर वृद्धि एकादेश होता है, जैसे–**प्र+ऋच्छति** = **प्रार्च्छति।** (प्र के अ के बाद ऋ का र आने पर आ वृद्धि एकादेश हुआ जो 'उरण् रपरः' सूत्र से आर् बना)। अन्य उदाहरण हैं–प्र+ऋणोति = प्रार्णोति, उप+ऋच्छन् = उपार्च्छन्।

3.3.5 पररूप सन्धि

परूप-सन्धि के सम्बन्ध में निम्नलिखित सूत्र तथा वार्तिक ज्ञातव्य है–

एङि पररूपम्। (6.1.94)

इस सूत्र पर वृत्ति करते हुए वरदराजाचार्य कहते हैं–**'आत् उपसर्गात् एङादौ धातौ परे पररूपम् एकादेशः स्यात्।'** अर्थात्–'अकारान्त उपसर्ग से परे **एङादि** (जिसके **आदि** में एङ् प्रत्याहार हो, **ए ओ** में से कोई वर्ण हो) ऐसी धातु आने पर, दोनों के स्थान पर **पर रूप** (**ए** या **ओ**) एकादेश हो। जैसे **प्र+एजते** = **प्रेजते** (प्र के अ तथा एजते के ए के स्थान पर पररूप 'ए' एकादेश हुआ), **उप+ओषति** = **उपोषति** (उप के अ तथा औषति के ओ, दोनों के स्थान पर ओ एकादेश हुआ) अन्य उदाहरण हैं–प्र+एषयति = प्रेषयति, प्र+एषणीय = प्रेषणीय, प्र+ओषति = प्रोषति।

निम्नलिखित वार्तिक के द्वारा 'टि' को पररूप आदेश होता है। परन्तु 'टि' क्या है? 'टि' संज्ञा का व्याख्यान करने के लिए निम्नलिखित सूत्र प्रस्तुत किया जाता है–

अचोऽन्त्यादि टि (1.1.64)

(अचः। अन्त्यादि। टि)

इसकी वृत्ति इस प्रकार है–**'अचाम् मध्ये योऽन्त्यः स आदिर्यस्य तत् टि-संज्ञं स्यात्।'** अर्थात्–'अचों (स्वरों) के मध्य जो अन्तिम अच् (स्वर) है, वह जिसके आदि में हो उसे (उतने भाग को) **टि** कहते हैं।' उदाहरण के लिए कमलम् में अम् टि है क्योंकि सभी स्वरों के मध्य अन्तिम स्वर ल में अ है। यह अम् के आदि में होने से अम् टि हुआ।

वार्तिक

शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम् तच्च टेः

'शकन्धुः' इत्यादि जो रूप गण-पाठ में परिगणित है उनमें 'टि' को पर-रूप आदेश होता है। जैसे–**शक अन्धु** = **शकन्धुः**= 'शकों का कूप' (शक में अन्तिम 'अ' टि है), **कर्क+अन्धु** = **कर्कन्धुः**

© *Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi*

'कर्को का कूप', **मनस्+ईषा** = **मनीषा** (मनस् में 'अस्' टि है), **लाङ्गल+ईषा** = **लाङ्गलीषा। मृत+अण्डः** = **मार्तण्डः।** 'तत आगत' से अण् प्रत्यय करके आदि अच् को वृद्धि करने से 'मार्तण्ड' बना।

यह **आकृति-गण** है। इसलिए इस प्रकार के अन्य रूप भी इस नियम के आधार पर सिद्ध किये जाते हैं। पर-रूप सन्धि के लिए निम्नलिखित सूत्र उपयोगी हैं–

ओमाङोश्च। (6.1.95)

इस पर वृत्ति करते हुए आचार्य वरदराज कहते हैं–**'ओमि आङि च आत् परे पररूपम् एकादेशः स्यात्।'** अर्थात्–'अकार से परे **ओम्** तथा **आङ्** आने पर, पररूप एकादेश हो।'' जैसे–**शिवाय+ओं+नमः** = **शिवायों नमः।** इस सूत्र का **आङ्** शब्द वास्तव में एक **आ** है जिसका ङ् **इत्संज्ञक** है। उदाहरण–**शिव+आ+इहि** = **शिव+एहि (आ+इहि)** इस उदाहरण में **आ+इहि** में गुण-सन्धि होकर एहि बनने पर **शिव शब्द के अ** से परे **आङ्** का आ नहीं है, अपितु गुण-सन्धि का ए है। इस अवस्था में भी **शिवाय के अ का एहि** के **ए** के साथ पररूप होगा या नहीं? इस समस्या का समाधान निम्नलिखित सूत्र के द्वारा किया जाता है–

अन्तादिवच्च। (6.1.85)

इसकी वृत्ति इस प्रकार है–**''योऽयमेकादेशः स पूर्वस्य अन्तवत् परस्य आदिवत् स्यात्।''** अर्थात्–दो वर्णों के स्थान पर जो एकादेश होता है वह पूर्ण वर्ण के अन्त के सदृश, और परवर्ती वर्ण के आदि वर्ण के सदृश माना जाय (जब व्याकरण प्रक्रिया में ऐसी आवश्यकता पड़े)।'' अतएव **एहि** का **ए** इस सन्धि में पूर्ववर्ती वर्ण **आ** के अन्त के सदृश **आ** माना जाता है। उसी आधार पर **शिव** के **अ** का परवर्ती एहि के ए के साथ पररूप एकादेश होकर **शिवेहि** सिद्ध होता है।

3.3.6 सवर्ण-दीर्घ सन्धि

सवर्ण-दीर्घ-सन्धि के लिए निम्नलिखित पाणिनीय सूत्र प्रस्तुत किया जाता है–

अकः सवर्णे दीर्घः। (6.1.101)

इसकी वृत्ति करते हुए वरदराजाचार्य कहते हैं–**''अकः सवर्णे अचि परे पूर्वपरयोः दीर्घः एकादेशः स्यात्।''** अर्थात्–जब **अक्** प्रत्याहार (अ इ उ ऋ लृ) के किसी वर्ण से परे कोई सवर्ण अच् आता हो, तब पूर्ववर्ती दोनों वर्णों के स्थान पर दीर्घ एकादेश हो।'' जैसे–**दैत्य+अरि** = **दैत्यारिः, श्री+ईशः** = **श्रीशः, विष्णु+उदय** = **विष्णूदयः।** ऋकार तथा लृकार की सवर्ण-सन्धि के संबंध में भी वार्तिक भी हैं–

ऋति सवर्णे ऋ वा।

जब ऋ से परे सवर्ण ऋ हो, तो विकल्प से दीर्घ एकादेश होता है। जैसे–**होतृ+ऋकारः+होतृकारः** या **होतृकारः।**

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

लृति सवर्णे लृ वा।

ऋ से परे सवर्ण **लृ** आने पर विकल्प से **लृ** एकादेश होता है और पक्ष में **लृ** न होने पर सावर्ण्य के कारण, ऋ एकादेश होता है। जैसे–**होतृ+लृकार** = **होत्लृकार** या **होतृकार:।**

3.3.7 पूर्वरूप सन्धि

जिस सन्धि में परवर्ती और पूर्ववर्ती वर्ण के स्थान पर **पूर्ववर्ती वर्ण** एकादेश के रूप में रहता है, उसे पूर्व-रूप-सन्धि कहते हैं। इस संबंध से पाणिनि का निम्नलिखित सूत्र है–

एङ:पदान्तादति। (6.1.106)

(एङ:। पदान्तात्। अति।)

इस सूत्र की वृत्ति इस प्रकार है–**''पदान्तात् एङ: अति परे, पूर्वरूपम् एकादेश: स्यात्।''** अर्थात्–''पद के अन्त में आने वाले एङ् (ए ओ) से परे **अ** आने पर, पूर्ववर्ती (**ए ओ**) और परवर्ती (**अ**) वर्ण के स्थान पर **पूर्वरूप** (ए ओ) एकादेश हो। जैसे–**हरे+अव** = **हरेव** या **हरेऽव**। छात्रों को समझने के लिए पूर्वरूप में मिले **अ** को प्रकट करने के लिए **अवग्रह** (ऽ) का चिह्न लगा दिया जाता है, परन्तु इस चिह्न के बिना भी पूर्वरूप हरेव इत्यादि शुद्ध है। **विष्णो+अव** = **विष्णोव** (या विष्णोऽव)। ऐसी सन्धि में **'गो'** शब्द के **ओ** से परे **अ** तथा **इ** आने पर होने वाले विकारों के संबंध में निम्नलिखित सूत्र प्रस्तुत है–

सर्वत्र विभाषा गो:। (6.1.122)

इस सूत्र पर वृत्ति करते हुए वरदराज कहते हैं–**''लोके वेदे च एङन्तस्य गो: अति वा प्रकृतिभाव: स्यात् पदान्ते।''** अर्थात्–जो एङन्त (ओकारान्त) **गो** रूप पद के अन्त में आता है उससे परे **अ** आने पर पूर्ववर्ती **ओ** और परवर्ती **अ** विकल्प से **प्रकृतिभाव** होता है।'' **प्रकृतिभाव** का विकल्प न होने की अवस्था में, पूर्वोक्त सूत्र के नियम के अनुसार, पूर्व रूपसन्धि हो जाती है। जैसे–**गो+अग्रम्** = **गो अग्रम्** या **गोऽग्रम्**। अन्य उदाहरण–**वने+अत्र–वनेऽत्र, रामो+असो** = **रामोऽसौ, पण्डितो+अवदत्** = **पण्डितोऽवदत्।**

यहाँ पर यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि यदि गो शब्द का **ओकारान्त** (एङन्त) रूप न हो, तो यह सन्धि-नियम नहीं लगता है। जैसे-**चित्रगु+अग्रम्** > **चित्रग्वग्रम्**। इसमें समास के कारण से गो के ओ का उ बन गया है। इसी प्रकार यदि गो शब्द का ओ सुबन्त पद के अन्त में न आता हो, तो इस सूत्र का नियम लागू नहीं होता है। जैसे–**'गो'** शब्द का पञ्चमी या षष्ठी एकवचन का रूप बनाते समय जब **गो+अस्** की सन्धि करते हैं, तो गो: रूप बनता है और उपर्युक्त सूत्र से विहित वैकल्पिक-प्रकृतिभाव नहीं होता है, क्योंकि **गो** का **ओ** सुबन्त पद के बीच में आता है, अन्त में नहीं। पाणिनीय व्याकरण के एक अन्य सूत्र के अनुसार जो नीचे उद्धृत किया गया है, अच् परे रहते पदान्त में एङन्त **गो** को वैकल्पिक **अवङ्** आदेश होता है। अब प्रश्न यह उठता है कि **अवङ्** आदेश सारे गो शब्द के स्थान पर हो या इसके किसी एक भाग के स्थान

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

पर? इस समस्या के समाधान के लिए पाणिनीय व्याकरण के निम्नलिखित परिभाषा-सूत्र प्रस्तुत किये जाते हैं–

अनेकाल शित् सर्वस्य (1.1.55)

जिस आदेश में अनेक वर्ण (अल्) हों या जिसका श् इत्-संज्ञक हो, वह सारे शब्द के स्थान पर होता है; अनेकाल् का उदाहरण–'अस्तेर्भूः' से सम्पूर्ण अस् के स्थान में भू आदेश होता है। शित् का उदाहरण–अष्टा+अस्–यहाँ 'अष्टाभ्य औश्' से सम्पूर्ण अस् के स्थान में शित् होने से औ आदेश होकर **अष्टौ** रूप बनता है। इस सूत्र के अनुसार, सारे गो शब्द के स्थान पर अनेकाल् आदेश अवङ् प्राप्त होता है। परन्तु निम्नलिखित सूत्र इसका बाधक है–

ङिच्च (1.1.53)

(ङित्। च)

इसकी **वृत्ति** करते हुए आचार्य वरदराज कहते हैं–**"ङित् अनेकाल् अपि अन्त्यस्य एव स्यात्।"** अर्थात्–अनेक वर्ण (अल्) वाला होने पर भी जो आदेश **ङित्** है (**जिसका ङ् इत् है**) वह आदेश स्थानी के केवल अन्तिम वर्ण के स्थान पर होता है। इस व्यवस्था के अनुसार निम्नलिखित सूत्र लागू होता है–

अवङ् स्फोटायनस्य। (6.1.123)

इसकी वृत्ति इस प्रकार है–**"पदान्ते एङन्तस्य गोः अवङ् वा अचि।"** अर्थात्–"पदान्त में एङन्त (ओकारान्त) गो के स्थान पर विकल्प से **अवङ्** आदेश होता है, यदि अच् परे हो।" **अवङ्** आदेश का **ङ** **इत्** है। इसलिए पूर्वोक्त परिभाषा-सूत्र के अनुसार **गो+अग्रम्** की सन्धि में **गो** के अन्तिम **ओ** के स्थान पर **अव** आदेश होने पर, **गव+अग्रम्** बनकर **गवाग्रम्** रूप बना। इस विकल्प के अभाव में, पूर्वोक्त विकल्प से **गोऽग्रम्** ('एङः पदान्तादति' सूत्र से) तथा **गोअग्रम्** ('सर्वत्र विभाषा गोः' सूत्र से) बनते हैं। 'पदान्त' शब्द से प्रयोजन है–गो+इ दशा में सूत्र की प्रवृत्ति न होना। यहाँ गो शब्द से परे अच् है किन्तु 'सुप्तिङन्तं पदम्' सूत्र से गो प्रातिपादिक को सप्तमी विभक्ति इ के साथ पद संज्ञा होगी तब इस प्रकार यहाँ पदान्त 'इ' है 'गो' शब्द नहीं। अतः पदान्त न होने से अवङ् आदेश नहीं होगा। तब **'एचोऽयवायावः'** से ओकार को अव आदेश होकर 'गवि' रूप सिद्ध हुआ। गो की सन्धि के संबंध में निम्नलिखित सूत्र भी लागू होता है–

इन्द्रे च। (6.1.124)

इसकी वृत्ति इस प्रकार है–"गोः अवङ् स्यात् इन्द्रे।" अर्थात्–"इन्द्र शब्द परे होने पर गो के अन्तिम ओ को (नित्य) अवङ् आदेश हो।" जैसे–गो+इन्द्र=गव+इन्द्रः=गवेन्द्रः। इसमें कोई विकल्प नहीं है।

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

3.3.8 प्रकृतिभाव सन्धि

प्रकृतिभाव का अर्थ है मूल स्थिति में रहना, अर्थात् परिवर्तन (विकार) का न होना। जिस सन्धि में पूर्ववर्ती तथा परवर्ती स्वर **प्रकृतिभाव** से (अविकृत या अपरिवर्तित) रहते हैं, उसे प्रकृतिभाव-सन्धि कहते हैं। जो स्वर प्रकृतिभाव से रहते हैं उनके दो भेद हैं–(1) प्लुतसंज्ञक तथा (2) प्रगृह्यसंज्ञक। इस संबंध में पाणिनीय व्याकरण का निम्नलिखित सूत्र प्राप्त होता है–

प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् (6.1.125)

वरदराज ने इस सूत्र की वृत्ति इस प्रकार की है–''एतेऽचि नित्यं प्रकृत्या स्युः।'' इससे (प्लुत तथा प्रगृह्य) नित्य (हमेशा) प्रकृतिभाव से रहते हैं, जब इनसे परे अच् प्रत्याहार का कोई भी स्वर आये। अब प्रश्न यह उठता है कि प्लुत क्या है? प्लुत का लक्षण समझाने के लिए लघुसिद्धान्तकौमुदी से निम्नलिखित पाणिनीय सूत्र उद्धृत किया गया है–

दूराद्धूते च। (8.2.84)

(दूरात्। हूते। च)

''किसी को दूर से पुकारने में जिस वाक्य का प्रयोग किया जाता है उसकी **टि** विकल्प से प्लुत हो।'' जैसे–'**आगच्छ कृष्ण 3 अत्र गौश्चरति**'। इस उदाहरण में **कृष्ण** 3 की **टि** (अन्तिम अ) प्लुत है। इसलिए इसके परे '**अत्र**' का **अ** होते हुए भी यह प्रकृतिभाव से है और सवर्णदीर्घ सन्धि नहीं हुई है।

अब ऐसे सूत्र प्रस्तुत किए जाते हैं जो प्रगृह्यसंज्ञा का व्याख्यान करते हैं।

ईदूदेद्द्विवचनम् प्रगृह्यम्। (1.1.11)

इसकी वृत्ति इस प्रकार है–**''ईदूदेदन्तं द्विवचनं प्रगृह्यम् स्यात्।''** अर्थात् ''जिस द्विवचन रूप के अन्त में ई, ऊ तथा ए हो, वह प्रगृह्य संज्ञक हो।'' और प्रगृह्य होने के कारण ऐसे रूप प्रकृतिभाव से रहते हैं। जैसे **हरी+एतौ** = **हरी एतौ** (ये दो घोड़े या बन्दर)–यहाँ 'हरी' यह पद '**हरि**' शब्द का प्रथमा विभक्ति का द्विवचन है और इसका अन्तिम वर्ण '**ई**' है इसलिए इसकी प्रगृह्य संज्ञा हुई। फलस्वरूप '**ई**' के परे 'ए' रहते हुए भी प्रकृतिभाव रहा, यण् नहीं हुआ। **विष्णु+इमौ** = **विष्णू इमौ**–यहाँ 'विष्णू' द्विवचन है और 'ऊ' में समाप्त होता है इसलिए इसके परे 'इ' होते हुए भी 'इको यणचि' से 'व्' नहीं होता। इसी प्रकार **गङ्गे+अमू** = **गङ्गे अमू**। अन्य उदाहरण हैं–**कवी+आगच्छतः** = **कवी आगच्छतः**, **ऋतू+अतीतौ** = **ऋतु अतीतौ।**

अदसो मात् । (1.1.12)

इस सूत्र पर वरदराज ने निम्नलिखित वृत्ति की है–

''अस्मात् परौ ईदूतौ प्रगृह्यौ स्तः।'' अर्थात्–''**अदस्** शब्द के रूपों में **मकार** से परे आने वाला ई तथा ऊ प्रगृह्य होता है।'' जैसे–**अमी+ईशाः** = **अमी ईशाः**–यहाँ मकरान्त 'अमी' अदस् शब्द का रूप है

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

और इसके परे ई है जिसकी प्रगृह्य संज्ञा हुई। अतः प्रकृतिभाव रहा। (रामकृष्णौ) **अमू+आसाते** = (रामकृष्णौ) **अमू आसाते**। यहाँ भी पहले की तरह सिद्धि होगी। अन्य उदाहरण हैं–**अमी+ईहन्ते** = **अमीईहन्ते। अमू+अश्नीतः** = **अमू अश्नीतः।**

निपात एकाजनाङ् (1.1.14)

(निपातः। एकाच्। अनाङ्)

इस सूत्र पर वृत्ति करते हुए वरदराज कहते हैं–**''एकोऽज् निपात आङ् वर्जः प्रगृह्यः स्यात्।''** अर्थात्–आङ् को छोड़कर ऐसा कोई भी निपात जिसमें एक ही स्वर (अच्) हो, वह प्रगृह्य होता है। इस सूत्र में आए हुए अनेक शब्दों की व्याख्या करने की आवश्यकता है। सबसे पहले यह प्रश्न उठता है कि निपात क्या है? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए निम्नलिखित सूत्र प्रस्तुत किए जाते हैं।

चादयोऽसत्वे। (1.4.57)

इसकी वृत्ति इस प्रकार है–**''अद्रव्यार्थाः चादयः निपाताः स्युः।''**अर्थात्–''च'' इत्यादि जिन शब्दों का अर्थ द्रव्य नहीं है ऐसे शब्द **निपात** कहलाते हैं।

प्रादयः। (1.4.58)

प्र, परा इत्यादि जो शब्द पाणिनीय गणपाठ में पठित हैं वे भी **निपात** कहलाते हैं।

अतएव एक अच् वाले निपात प्रगृह्य होने के कारण, **अच्** परे रहते, **प्रकृतिभाव** से रहते हैं। जैसे–**इ+इन्द्रः=इ इन्द्रः, उ+उमेशः=उ उमेशः।**

अब प्रश्न यह उठता है कि कौन-सा आ ङित् है और कौन-सा अङित्, क्योंकि जो **आ** ङित् नहीं है वही प्रगृह्य है। इस प्रश्न का समाधान निम्नलिखित कारिका के द्वारा किया जाता है–

ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधौ च यः।
एतन्मात्रं ङितं विद्याद् वाक्यस्मरणयोरङित्।।

अर्थात्–''जो **आ** ईषत् (थोड़ा) के अर्थ में, क्रिया के योग में, मर्यादा[1] तथा अभिविधि[2] (पूर्णव्याप्ति) के अर्थ में प्रयुक्त होता है उसे ङित् समझना चाहिए, और जो **आ** वाक्य तथा स्मरण करने में प्रयुक्त होता है, वह **अङ्ित** माना जाता है।'' जैसे–**आ+एवं नु मन्यसे** = **आ** एवं नु मन्यसे (ओह! आप ऐसा मानते हैं–वाक्य) **आ+एवं किल तत्** = **आ एवं किल तत्** ('ओह, वह ऐसा था'–स्मरण) इन उदाहरणों में **आ, अङ्ित** होने के कारण प्रगृह्य है। अतएव अच् परे रहते भी, इन उदाहरणों में **आ** प्रकृतिभाव से है।

---

[1] मर्यादा का अर्थ है सीमा अवधि। लेकिन इसमें अवधि शामिल नहीं होती। 'आसमुद्रं राज्यम्' में समुद्र, जो राज्य की सीमा है, राज्य में नहीं माना जाता।
[2] अभिविधि भी मर्यादा (सीमा) होती है, लेकिन इसमें अवधि भी साथ ली जाती है। 'आहिमालयं भारत' में हिमालय(जो सीमा है) भी भारत में शामिल होगा।

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

ओत्। (1.1.15)

इसकी वृत्ति इस प्रकार है–"**ओदन्तः निपातः प्रगृह्यः स्यात्।**" अर्थात्–"जो निपात ओकारान्त है, वह प्रगृह्य हो।" जैसे–**अहो+ईशाः=अहो ईशाः।** यहाँ भी प्रकृति भाव रहा।

सम्बुद्धो शाकल्यस्येतावनार्षे। (1.1.16)

(सम्बुद्धौ। शाकल्यस्य। इतौ। अनार्षे।)

इस पर वृत्ति करते हुए वरदराज कहते हैं–"**सम्बुद्धिनिमित्तकः ओकारः वा प्रगृह्यः अवैदिके इतौ परे**"। जो **ओकार** सम्बोधन के निमित्त से होता है वह विकल्प से प्रगृह्य होता है, जब उससे परे ऐसा 'इति' शब्द हो जो **वैदिक** न हो।" जैसे–**विष्णो+इति=विष्ण इति** या **विष्णो इति** या **विष्णविति**। उत्तरवर्ती दो उदाहरणों में विकल्प से प्रगृह्य न होने पर, **विष्णो** के **ओ** को अयादि सन्धि हुई है।

मय उञो वो वा। (8.3.33)

इस सूत्र की वृत्ति इस प्रकार है–"**मयः परस्य उञो वो वा अचि।**" मय प्रत्याहार (कवर्गादि पाँचों वर्गों के वर्ण, ञ् के सिवाय) के किसी वर्ण से परे जो एकाच् (एक स्वर वाला) निपात **उ** आता है उसका विकल्प से **व्** हो, अच् परे रहते और **व्** न होने की अवस्था में उ प्रकृतिभाव से रहता है। जैसे–**किम्+उ+उक्तम्=किम्वुक्तम्** या **किमु उक्तम्।**

इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च। (6.1.127)

इस सूत्र पर वृत्ति करते हुए वरदराज कहते हैं–"**पदान्ताः इकः ह्रस्वाः स्युः असवर्णे अचि।**" पदान्त (पद का अन्त) में आने वाले **इक्** प्रत्याहार के जिस वर्ण से परे **असवर्ण** अच् हो वह विकल्प से ह्रस्व हो। जैसे–**चक्री+अत्र = चक्रि अत्र**। यहाँ पदान्त इक् ईकार को 'अ' परे रहने से इस सूत्र से ह्रस्व हुआ। जब इक् प्रत्याहार के ऐसे वर्ण का वैकल्पिक ह्रस्व होता तब वह **प्रकृतिभाव** में रहता है नहीं तो ह्रस्व करना व्यर्थ होगा। वैकल्पिक ह्रस्व न होने पर, सामान्य नियम के अनुसार सन्धि होती है। जैसे–**चक्री+अत्र = चक्रय्त्र**।

ऊपर के सूत्र की वृत्ति में बताया गया है कि **इक्** को ही यह वैकल्पिक ह्रस्व होता है। जब पदान्त में न हो, तो ऐसा नहीं होता है। जैसे–**गौरी+औ = गौर्‍य्+औ।** इस अवस्था में निम्नलिखित सूत्र लागू होता है–

अचो रहाभ्यां द्वे (8.4.46)

इस सूत्र की वृत्ति इस प्रकार है–"**अचः पराभ्यां परस्य यरः वा स्तः।**" जो रेफ (र्) तथा हकार **अच्** से परे जाता है उससे परे आने वाले **यर्** प्रत्याहार के वर्ण को विकल्प से द्वित्व हो। इस वैकल्पिक

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

द्वित्व के नियम के अनुसार, उपर्युक्त**गौरी** में **औ** से परे आने वाले रेफ से परे य् को वैकल्पिक द्वित्व होता है। इस प्रकार **गौर्यौ** तथा **गौय्र्यौ** ये दो रूप बनते हैं।

ऋत्यकः। (6.1.128)

(ऋति। अकः।)

इस सूत्र पर वरदराज ने निम्नलिखित वृत्ति की है–**''ऋति परे पदान्ताः अक; प्राग्वत् वा स्युः।''**

यदि सामने ह्रस्व ऋकार हो तो पद के अन्त में आने वाले 'अक्' को विकल्प से ह्रस्व होता है। जैसे–**ब्रह्मा+ऋषि=ब्रह्मऋषिः** या **ब्रह्मर्षिः**। यहाँ पदान्त आ को ऋ परे होने पर ह्रस्व हुआ तथा फिर प्रकृति भाव हुआ। दूसरे पक्ष में गुण अर् होकर 'ब्रह्मर्षिः' रूप बनता है।

3.4 सारांश

प्रस्तुत पाठ में आपने सन्धि प्रकरण के अन्तर्गत लघुसिद्धान्तकौमुदी आधारित अच् सन्धि के सभी सूत्रों का विस्तार से अध्ययन किया। जिसमें अच् सन्धि के यण्, अयादि, गुण, वृद्धि, पररूप, दीर्घ, पूर्वरूप एवं प्रकृतिभाव–इन सभी भेदों को सूक्ष्म रूप से समझा। आप भली-भाँति जान पाए कि अच् सन्धि में पूर्व एवं पर दोनों स्थानी स्वर ही होते हैं। इस पाठ में यह भी ज्ञात हुआ कि यदि एक से अधिक स्थानी प्राप्त हो रहे हों, तो आदेश किसके स्थान पर होगा। इस कठिनाई को **'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य'** सूत्र द्वारा स्पष्ट किया गया। इसी प्रकार यदि एक स्थानी के स्थान पर एक से अधिक आदेश प्राप्त हों तो इसका निवारण **'स्थानेऽन्तरतमः'** सूत्र द्वारा किया गया है। **'यथा संख्यमनुदेशः समानाम्'** सूत्र यह स्पष्ट करता है कि जहाँ स्थानी एवं आदेश की संख्या समान हो तो वहाँ 'समसम्बन्धी विधि' के अनुसार, क्रमशः प्रथम के स्थान पर प्रथम, द्वितीय के स्थान पर द्वितीय आदि आदेश होगा। सन्धि स्थलों में विकल्प व्यवस्था को भी जाना। साथ ही सपाद सप्ताध्यायी के प्रति त्रिपादी के असिद्धत्व का भी ज्ञान प्राप्त किया।

3.5 शब्दावली

सन्धि	–	वर्णों की अत्यन्त समीपता को संहिता अथवा सन्धि कहते हैं।
अच् सन्धि	–	स्वरों के मध्य होने वाली सन्धि को अच् सन्धि कहते हैं।
अव्यवहित	–	व्यवधान से रहित
संयोग	–	संयुक्त व्यञ्जन
स्थानी	–	जिसके स्थान पर कुछ कार्य किया जाता है, उसे स्थानी कहते हैं।
आदेश	–	स्थानी के स्थान पर जो कार्य किया जाता है, वह आदेश होता है।

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

समसम्बन्धी विधि – समान संख्या से सम्बन्ध रखने वाली जो प्रक्रिया की जाती है, वह संख्या के क्रम के अनुसार ही होनी चाहिए यानी प्रथम को प्रथम, द्वितीय को द्वितीय आदि।

प्रतिज्ञा – जिसका ज्ञान पाणिनीय व्याकरण की परम्परा के द्वारा ही होता है।

रँ प्रत्याहार – जिसमें र्, ल् वर्ण समाविष्ट हैं।

सपाद सप्ताध्यायी – अष्टाध्यायी के पहले सवा सात अध्याय अर्थात् प्रथम सात अध्याय पूर्णतः तथा आठवें अध्याय का प्रथम पाद इसके अन्तर्गत माना जाता है।

त्रिपादी – अष्टाध्यायी के आठवें अध्याय के द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ पाद को त्रिपादी कहा गया है।

प्रकृतिभाव – मूल स्थिति में रहना अर्थात् कोई परिवर्तन न होना।

3.6 सन्दर्भ–ग्रन्थ

- ***लघुसिद्धान्तकौमुदी***, चन्द्रकला नामक हिन्दी व्याख्या, डॉ. अर्कनाथ चौधरी, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर, 2001
- ***लघुसिद्धान्तकौमुदी***, धरानन्द शास्त्री, मूल एवं हिन्दी व्याख्या, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2003
- ***लघुसिद्धान्तकौमुदी*** (भैमी व्याख्या), भीमसेन शास्त्री, प्रथम भाग, भैमी प्रकाशन, दिल्ली, 1983।
- ***लघुसिद्धान्तकौमुदी***, प्रकाशिका नाम्नी हिन्दी व्याख्या, सत्यपाल सिंह, शिवालिक पब्लिकेशन, दिल्ली, 2014
- शर्मा 'ऋषि', डॉ. उमाशंकर–***संस्कृत साहित्य का इतिहास***, चौखम्भा भारती अकादमी, वाराणसी, 2014

3.7 अभ्यास प्रश्न

1. निम्न सूत्रों की व्याख्या कीजिए–

   (क) स्थानेऽन्तरतमः।

   (ख) एचोऽयवायावः।

   (ग) पूर्वत्रासिद्धम्।

2. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए–

   (क) यण् प्रत्याहार में .... वर्ण आते हैं।

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

(ख) जहाँ अनेक प्रकार का सादृश्य हो, वहाँ .... का सादृश्य बलवान् होता है।

(ग) संयुक्त व्यञ्जनों के लिए .... संज्ञा का प्रयोग होता है।

(घ) .... वर्ण गुणसंज्ञक कहलाते हैं।

(ङ) वृद्धिरेचि .... का अपवाद है।

(च) ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् .... सूत्र है।

3. 'इको यणचि' सूत्र की उदाहरण सहित व्याख्या कीजिए।

4. गुण सन्धि किसे कहते हैं? उदाहरण सहित समझाइए।

5. निम्नलिखित पदों में से किन्हीं दो की सिद्धि कीजिए–

(क) सुध्युपास्यः (ख) हरये

(ग) विद्यार्थी (घ) हरी एतौ

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

पाठ–4

लघुसिद्धान्तकौमुदी

सन्धि प्रकरण : हल् सन्धि–श्चुत्व, ष्टुत्व, जश्त्व, अनुनासिकत्व एवं छत्व सन्धि

संरचना

4.1 उद्देश्य
4.2 प्रस्तावना
4.3 हल् सन्धि–**'स्तोः श्चुना श्चुः'** सूत्र से **'पादन्ताद् वा'** सूत्र पर्यन्त
  4.3.1 श्चुत्व सन्धि
  4.3.2 ष्टुत्व सन्धि
  4.3.3 जश्त्व सन्धि
  4.3.4 अनुनासिकत्व सन्धि
  4.3.5 पूर्वसवर्णत्व सन्धि
  4.3.6 अनुस्वारत्व सन्धि
  4.3.7 परसवर्णत्व सन्धि
  4.3.8 छत्व सन्धि
4.4 सारांश
4.5 शब्दावली
4.6 सन्दर्भ–ग्रन्थ
4.7 अभ्यास प्रश्न

4.1 उद्देश्य

इस पाठ के अध्ययन के उपरान्त आप–

- हल् अथवा व्यञ्जन सन्धि की परिभाषा से परिचित होंगे।

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

- हल् सन्धि के अन्तर्गत **'स्तोः श्चुना श्चुः'** सूत्र से **'पादन्ताद् वा'** तक के सूत्रों के अर्थ एवं उदाहरणादि से अवगत होंगे।
- हल् सन्धि के भेदों–श्चुत्व, ष्टुत्व, जश्त्व एवं छत्व आदि में सन्धि व सन्धिविच्छेद के नियमों को समझ पाएँगे।
- विविध सूत्रों के प्रसंग में अपवाद रूप निषेधार्थक विधिसूत्रों की प्रक्रिया को जान सकेंगे।

4.2 प्रस्तावना

प्रिय छात्रो! आप पूर्व पाठ में सन्धि की परिभाषा एवं अच् सन्धि के भेदों-उपभेदों के माध्यम से स्वरों के मध्य होने वाली सन्धियों को विस्तृत रूप से पढ़ चुके हैं। अब आप हल् अर्थात् व्यञ्जन सन्धि का अध्ययन करेंगे। दो हलों अथवा व्यञ्जनों के अत्यन्त समीप होने पर जो परिवर्तन अथवा सन्धि होती है; उसे हल् सन्धि या व्यञ्जन सन्धि कहते हैं। अच् सन्धि में आपने समझा कि कुछ स्थानों को छोड़कर अधिकांशतः दो स्वर अपने-अपने स्वरूप में यथावत् नहीं रह सकते। एक स्वर के अनन्तर दूसरे स्वर की संभावना होते ही उन दोनों के स्थान में या तो वैसा ही एक दीर्घ स्वर आ जाता है या उन दोनों के स्थान में पूर्व का अथवा पर का ही रूप रह जाता है। हल् अथवा व्यञ्जन सन्धि में भी आप जानेंगे कि कोई भी अघोष व्यञ्जन तथा घोष व्यञ्जन एक-दूसरे के अनन्तर नहीं आते। यदि ऐसा संभावित हो तो पहला अघोष भी घोष वर्ण बन जाता है अथवा इसके विपरीत हो जाता है। ये एक प्रकार का सरलीकरण है। यथा, श्चुत्व सन्धि में तवर्ग से परे चवर्ग होने पर तवर्ग भी चवर्ग में परिवर्तित हो जाता है। इसी प्रकार पूर्व में अननुनासिक वर्ण हो और उससे परे अनुनासिक वर्ण हो तो वह पूर्व भी पर में परिवर्तित हो जाता है अर्थात् अनुनासिक हो जाता है। इसके अतिरिक्त हल् सन्धि में मध्यवर्ती व्यञ्जनों का विकल्प से लोप करके एक से अधिक रूप भी बन जाते हैं। उक्त सभी नियमों का आप इस पाठ में विस्तार से अध्ययन करने जा रहे हैं–

4.3 हल् सन्धि–'स्तोः श्चुना श्चुः' सूत्र से 'पादन्ताद् वा' सूत्र पर्यन्त

हल् (व्यञ्जन) की हल् (व्यञ्जन) या स्वर के साथ जो सन्धि होती है उसे हल् सन्धि कहते हैं।

4.3.1 श्चुत्व सन्धि

स्तोः श्चुनाश्चुः(8.4.40)

वृत्ति–(सकारतवर्गयोः शकारचवर्गाभ्यां योगे शकारचवर्गौ स्तः)

© *Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi*

शकार तथा चवर्ग के साथ सकार तथा तवर्ग का योग होने पर सकार के स्थान पर शकार और तवर्ग के स्थान पर चवर्ग होता है। जैसे–रामस्+शेते–रामश्शेते; इस दशा में पर शकार के साथ योग होने से पूर्व सकार के स्थान में शकार आदेश हुआ है।

रामस्+चिनोति–रामश्चिनोति; इस दशा में पर चकार के योग होने से पूर्व सकार के स्थान में चकार होकर रूप सिद्ध हुआ।

सत्+चित्=सच्चित्; इस दशा में पर चकार (चवर्ग) के योग होने से पूर्व तकार (तवर्ग) के स्थान में चवर्ग (चकार) होकर रूप बनता है।

शार्ङ्गिन+जय=शार्ङ्गिगञ्जय; इस दशा में पर चवर्ग के संयोग के कारण पूर्व तवर्ग नकार के स्थान पर ञकार आदेश होकर रूप सिद्धि होती है।

अन्य उदाहरण **हैं–उत्+चिनोति=उच्चिनोति**–चुनता है। **सत्+चरित्रम्=सच्चरित्रम्**–अच्छा चरित्र।**सूर्यस्+छन्न=सूर्यश्छन्नः**–सूर्य ढक गया। **विपद्+जालम्=विपज्जालम्**–विपत्तियों का समूह। **कतिचिद्+जनाः=कतिचिज्जनाः**–कितने ही आदमी।**यान्+चाः=याञ्चाः**–माँगना।

शात् (8.4.41)

वृत्ति–(शात् परस्य तवर्गस्य श्चुत्वं न स्यात्)

जो तवर्ग शकार से परे हो, शकार के योग से उस तवर्ग का चवर्ग नहीं बनता है। जैसे–**विश्+नः विश्नः; प्रश्+नः=प्रश्नः;** यहाँ **श्** का योग होने पर भी **न** का ञ् नहीं हुआ है।

4.3.2 ष्टुत्व सन्धि

ष्टुना ष्टुः (8.4.44)

वृत्ति–(स्तोः ष्टुना योगे ष्टुः स्यात्)

षकार तथा टवर्ग के योग में सकार का षकार और तवर्ग का टवर्ग होता है जैसे–**रामस्+षष्ठः रामष्षष्ठः**–इस दशा में पर षकार के साथ योग होने से पूर्व सकार के स्थान में षकार आदेश हुआ।

रामस्+टीकते=रामष्टीकते; इस दशा में पर टकार रूप के योग होने से पूर्व सकार के स्थान में षकार आदेश हो जाता है।

पेष्+ता=पेष्टा–इस दशा में पूर्व षकार के साथ योग होने पर तकार के स्थान में टकार आदेश होकर 'पेष्टा' रूप सिद्ध हुआ।

तत्+टीका=तट्टीका–इस दशा में पर टकार (टवर्ग) के योग में पूर्व तकार (तवर्ग) के स्थान में टवर्ग (टकार) आदेश हुआ।

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

चक्रिन्+ढौकसे=चक्रिण्ढौकसे–इस दशा में पर ढकार के योग होने से पूर्व नकार तवर्ग के स्थान में षकार आदेश होकर उक्त रूप सिद्ध हुआ।

अन्यउदाहरण हैं–**प्रष्+ता=प्रष्टा; सत्+टीका–सट्टीका; गरुत्मान्+डयते=गरुत्माण्डयते**। **अधिष्+ठाता=अधिष्ठाता**।

अपवाद–न पदान्ताट्टोरनाम् (8.4.42), पदान्ताट्टवर्गात्परस्यानामः स्तोः ष्टुर्न स्यात्। नाम् (षष्ठी बहुवचन) के प्रत्यय को छोड़कर जो सकार तथा तवर्ग पदान्त के टवर्ग से परे आता है उसे स् का ष् और तवर्ग का टवर्ग नहीं होता है। जैसे–**षट्+सन्तः=षट् सन्तः, षट्+ते=षट्ते**। यदि–टवर्ग पदान्त में न होकर पद के मध्य में हो तो टवर्ग से परे आने वाले तवर्ग का टवर्ग अवश्य होता है। जैसे–ईट्+ते=ईट्टे। पदान्त के टवर्ग से परे आने पर ही यह निषेध लागू होता है परन्तु ष् से परे यह निषेध नहीं लगता है। जैसे–**सर्पिष्+तमम्=सर्पिष्टमम्।**

वार्त्तिककार कात्यायन ने नाम के अपवाद के साथ नवति तथा नगरी का भी समावेश करने का सुझाव दिया है**(अनाम्नवतिनगरीणामित वाच्यम्)**। जैसे–**षट्+नाम=षण्णाम्। षट्+नवति=षण्णवति।षट+नगर्य=षण्णगर्यः।** यहाँ सब स्थानों पर ष्टुनाष्टुः से न की जगह ण् हुआ।

तोः षि (8.4.83)

वृत्ति–(न ष्टुत्वम्)

षकार परे रहते तवर्ग का टवर्ग नहीं होता। जैसे–सन्+षष्ठः-सन्षष्ठः। इसमें न् का ण् नहीं हुआ है क्योंकि ष् परे है।

4.3.3 जश्त्व सन्धि

झलां जशोऽन्ते (8.2.39)

वृत्ति–(पदान्ते झलां जशः स्युः)

पदान्त में झल् प्रत्याहार के वर्ण की जगह जश् प्रत्याहार का वर्ण आ जाता है। जैसे–**वाक्+ईशः=वागीशः;चित्+रूपम्=चिद्रूपम्**। यहाँ पदान्त झल् 'क्' के स्थान पर सादृश्य के कारण जश् 'ग्' हुआ और त् की जगह द् हुआ।

4.3.4 अनुनासिकत्व सन्धि

यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा (8.4.45)

वृत्ति–(यरः पदान्तस्यऽनुनासिके परेऽननुनासिका वा स्यात्)

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

अनुनासिक परे होने पर पदान्त के यर् प्रत्याहार के वर्ण के स्थान पर विकल्प से अनुनासिक हो। जैसे–**एतत्+मुरारि=एतन्मुरारि।** अनुनासिक 'म्' सामने होने पर पदान्त यर् 'त्' की जगह 'न्' हुआ। वैकल्पिक अनुनासिक न होने पर **'झलां जशोऽन्ते'** से त् का द् बनकर एतद्मुरारिः बनता है।

वार्त्तिककार यहाँ कहते हैं–**'प्रत्यये भाषायां नित्यम्'** अर्थात् लौकिक संस्कृत के प्रयोगों में यर् प्रत्याहार के पदान्त वर्ण से परे प्रत्यय का अनुनासिक वर्ण आने पर, यर् प्रत्याहार के पदान्त वर्ण का नित्य अनुनासिक बन जाता है। जैसे–**तत्+मात्रम्=तन्मात्रम्; चित्+मयम्=चिन्मयम्।** पहले उदाहरण में मात्रच् प्रत्यय और दूसरे में मयट् प्रत्यय है।

तोर्लि (8.4.60)

वृत्ति–(तवर्गस्य लकारे परे परसवर्णः)

तवर्ग के परे लकार आने पर, तवर्ग के स्थान पर यथायोग्य लकार का सवर्ण होता है। जैसे–**तत्+लयः=तल्लयः।** न् के स्थान पर अनुनासिक ल् (लँ्) होता है जैसे–**विद्वान्+लिखति=विद्वाल्ँलिखति।**

4.3.5 पूर्वसवर्णत्व सन्धि

उदः स्थास्तम्भो पूर्वस्य (8.4.61)

वृत्ति–(उदः परयोः स्थास्तम्भोः पूर्वसवर्णः)

उद् से परे स्था तथा स्तम्भ धातुओं की जगह पूर्ववर्ती वर्ण का सवर्ण होता है। उद् से परे आने वाले स्था तथा स्तम्भ के आदि स् को ही यह विकार होता है। अर्थात् इनका स् पूर्ववर्ती वर्ण द् के सवर्ण थ् में बदल जाता है। जैसे–**उद्+स्थानम=उद्+थ्थानम्; उद्+स्तम्भनम्=उद्+थ्तम्भनम्।** (प्रयत्न के साम्य के आधार पर जब स् को द् के सवर्ण में बदला जाता है तब स् का थ् बनता है।) इस स्थिति में **'झरो झरि सवर्णे'**[1] सूत्र से **उद्+थ्थानम्** तथा **उद्+थ्तम्भनम्** में **थ्** का वैकल्पिक लोप होकर **उद्+थानम्** तथा **उद्+तम्भनम्** बनते हैं। **'खरि च'**[2] सूत्र से उद् के द् का त् बनकर एक तकार वाला रूप 'उत्थानम्' तथा 'उत्तम्भनम्' बनता है। किन्तु जब 'झरो झरि' इत्यादि सूत्र से थ् का वैकल्पिक लोप न करने पर 'खरिच' सूत्र से थ् का त् बन जाता है इस प्रकार 'उत्थानम्' तथा 'उत्तम्भनम्' सिद्ध होता है।

झयो होऽन्यतरस्याम् (8.4.62)

---

[1] झरो झरि सवर्णे–व्यञ्जन से परे झर् प्रत्याहार का जो वर्ण आता है उससे परे यदि झर् प्रत्याहार का सवर्ण हो तो पूर्ववर्ती झर् का विकल्प से लोप होता है।

[2] खरि च–झल् प्रत्याहार के वर्ण से परे खर् प्रत्याहार का वर्ण आने पर झल् प्रत्याहार के वर्ण के स्थान चर् प्रत्याहार का वर्ण बनता है।

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

वृत्ति–(झयः परस्य हस्य वा पूर्वसवर्णः)

झय् प्रत्याहार के वर्ण से परे जो हकार आता है उसके स्थान में विकल्प से पूर्ववर्ती वर्ण (झय्) का सवर्ण आ जाता है। पूर्व सवर्ण बनते समय हकार पूर्ववर्ती वर्ण के वर्ग के चौथे वर्ण में बदल जाएगा क्योंकि वर्गों के चतुर्थ वर्ण प्रयत्नों के अनुसार हकार के सदृश हैं। जैसे–**वाक्+हरिः=वाग्घरिः;** यहाँ हरिः के ह का घ बन गया और **झलां जशोऽन्ते** से वाक् के क् का ग् बन गया। विकल्प न होने की अवस्था में वाग्हरिः बनता है।

शश्छोऽटि (8.4.63)

वृत्ति–(झयः परस्य शस्य छो वाऽटि)

पदान्त झय् प्रत्याहार के वर्ण से परे आने वाला शकार अट् प्रत्याहार का वर्ण परे होने पर छकार में बदल जाता है। उदाहरण के लिए–**तद्+शिवः=तज्शिवः** (**स्तोः श्चुनाश्चुः** से तद् के द् का ज्) तच्+शिवः (**खरि च** सूत्र से तद् का द् च् में बदल कर तच् शिवः)–**तच्छिवः** (**शश्छोऽटि** से श् का छ् हुआ)। शकार का वैकल्पिक छकार न करने पर तच्शिवः रूप रहता है।

4.3.6 अनुस्वारत्व सन्धि

मोऽनुस्वारः (8.3.23)

वृत्ति–(मान्तस्य पदस्यानुस्वारो हलि)

पदान्त में आने वाले मकार हल् (व्यञ्जन) परे रहने पर अनुस्वार बन जाता है। जैसे–हरिम्+वन्दे= हरिं वन्दे।

नश्चापदान्तस्य झलि (8.3.24)

वृत्ति–(नस्य मस्य वापदान्तस्य झल्यनुस्वारः)

जो नकार तथा मकार पद के अन्त में नहीं है और जिससे परे झल् प्रत्याहार का कोई वर्ण है वह भी अनुस्वार में बदल जाता है, जैसे–**यशान्+सि=यशांसि।** यहाँ न् अपदान्त है और उसके परे झल् सकार है। इसी तरह **आक्रम्+स्यते=आक्रंस्यते** बनता है।

4.3.7 परसवर्णत्व सन्धि

अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः (8.4.58)

यदि अनुस्वार से परे यय् प्रत्याहार का कोई वर्ण आए तो अनुस्वार उस परवर्ती वर्ण का सवर्ण बन जाता है। **अर्थात्** उस वर्ण के वर्ग के पंचम वर्ण में बदल जाता है। जैसे–**शाम्+तः=शांतः** (**नश्चापदान्तस्य झलि** सूत्र से)=**शान्तः** (अनुस्वार का न् बनता है क्योंकि परे तकार है और तवर्ग का अन्तिम वर्ण न् होता है।)

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

वा पदान्तस्य (8.4.59)

पदान्त में आने वाला अनुस्वार भी यय् प्रत्याहार का कोई वर्ण परे आने पर विकल्प से परवर्ती वर्ण के सवर्ण में बदल जाता है। जैसे–**त्वम्+करोषि=त्वङ्करोषि** (क् के परे रहते म् की जगह ङ्–क का सवर्ण–अनुनासिक) हुआ। वैकल्पिक पर सवर्ण न होने पर अनुस्वार ही रहता है; जैसे–**त्वं करोषि**।

मो राजि समः क्वौ (8.3.25)

वृत्ति–(क्विबन्तौ राजतौ परे समो मस्य म एव स्यात्)

जब सम् से परे ऐसी राज् धातु हो जिसके अन्त में क्विप् प्रत्यय आया हो, तब सम् के म् का म् ही रहता है, अनुस्वार नहीं बनता है। यह **'मोऽनुस्वारः'** का अपवाद है, जैसे–**सम्+राट्** (राज् के ज् का पदान्त में ट् हो गया है)=**सम्राट्**।

हे मपरे वा (8.3.26)

वृत्ति–(मपरे हकारे परे मस्य मो वा)

जिस हकार से परे मकार हो, उससे ठीक पूर्व आने वाले मकार का विकल्प से मकार ही होता है। जैसे–**किम्+ह्मलयति=किम् ह्मलयतिः**। यहाँ 'ह्म' में ह् से परे मकार है इसलिए हकार से पूर्ववर्ती किम् के मकार को मकार ही बनारहा अनुस्वार नहीं हुआ। वैकल्पिक मकार न रहने पर मकार का अनुस्वार बनकर **किं ह्मलयति** बनेगा।

यवलपरे यवला वा (वार्त्तिक)

मकार से परे आने वाले हकार से परे य् व् ल् हो तब मकार के स्थान पर क्रमशः अनुनासिक य् व् ल् (यँ वँ लँ) होता है। जैसे–**किन्+ह्य=किम् ह्यः**, या **किं ह्यः, किम्+ह्वलयति=किवं ह्वलयति** या **किं ह्वलयति; किम्+ह्लादयति=किल्ं ह्लादयति या किंह्लादयति।**

नपरे नः (8.3.27)

वृत्ति–(नपरे हकारे मस्य नो वा)

मकार से परे आने वाले हकार से परे नकार हो तो मकार का विकल्प से न् बन जाता है। जैसे–**किम्+ह्नु ते=किन् ह्नु ते** अथवा **मोऽनुस्वारः** से**किंह्नुते।**

डः सिधुट् (8.3.29)

वृत्ति–(डात्परस्य सस्य धुड् वा)

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

डकार से परे जो सकार आता है उसे विकल्प से धुट् आगम होता है। धुट् का ट् तथा उ दोनों इत्संज्ञक हैं। अतएव इसका केवल ध् सकार के साथ जुड़ता है। जब किसी समुदाय को **टित्** आगम का विधान किया जाता है तो वह शुरू में लगाया जाता है और जब **कित्** आगम का विधान किया जाता है तो वह अन्त में लगाया जाता है।[1] धुट् आगम टित् होने से सकार से पहले लगाया जाता है।[1] उदाहरण के लिए–**षड्+सन्तः=षड्+ध् सन्तः'खरिच'** सूत्र से **सन्त के स् से पूर्व ध्** का त् बनकर **षड्+त्+सन्तः** बनता है। पुनः **'खरिच'** से ही षड् के ड् का ट् बनकर **षट्त्सन्तः** बनता है। धुट् का वैकल्पिक आगम न करने पर **षड्+सन्तः=षड्सन्तः** बनता है।

ङ्णोः कुक्टुक् शरि (8.3.28)

यदि ङकार तथा णकार से परे शर् प्रत्याहार (श् ष् स्) का कोई वर्ण हो तो ङकार को **कुक्** का आगम और णकार को **टुक्** का विकल्प से आगम होता है। **कुक्** तथा **टुक्** दोनों कित् होने के कारण क्रमशः ङकार तथा णकार के बाद में आते हैं। जैसे–**प्राङ्+षष्ठः=प्राङ्क्+षष्ठः=प्राङ्क्षष्ठः** (क् और ष् के संयोग से क्ष बन गया।)। **सुगण्+षष्ठः=सुगण्ट् षष्ठः**। आगम न होने पर **प्राङ्षष्ठः** और **सुगण्षष्ठः** रूप होंगे।

चयोः द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम् (वार्तिक)

पौष्करसादि वैयाकरणों के मतानुसार शर् प्रत्याहार को कोई वर्ण परे रहते चय् प्रत्याहार के वर्ण (य् र् त् क् प्) विकल्प से द्वितीय वर्ण में बदल जाते हैं अर्थात् शर् परे रहते च् का छ्, ट् का ठ्, त् का थ्, क् का ख् और प् का फ् बन जाता है।इस प्रकार **प्राङ्क्+षष्ठः=प्राङ्ख् षष्ठः** और **सुगणट्+षष्ठः** और **सुगणठ् षष्ठः** बनते हैं।

नश्च (8.3.30)

वृत्ति–(नान्तात्परस्य सस्य धुड्वा)

नकारान्त पद से परे आने वाले सकार को विकल्प से **धुट्** का आगम होता है। और **धुत् टित्** होने के कारण स् से पूर्व आता है। जैसे–**सन्+सः=सन्+ध्सः=सन्त्सः (खरि च** सूत्र से ध् का त् बन गया)। **धुट्** का वैकल्पिक आगमन होने पर **सन् सः** रूप बनेगा।

शि तुक् (8.3.31)

वृत्ति–(पदान्तस्य नस्य शे परे तुग्वा)

[1] आद्यन्तौ टकितौ। पाणिनि 1.1.46

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

पदान्त नकार से परे शकार आने पर नकार को विकल्प से **तुक्** का आगम होता है। **तुक्** कित् होने के कारण नकार के बाद में आता है। उदाहरण–**सन्+शम्भु=सन्त्+शम्भु:।'स्तो:श्चुनाश्चु:'** के द्वारा **सन्त् शम्भु:** में त् का च् बनकर **सन्च्+शम्भु:** बना। **शश्छोऽटि** द्वारा **सन्च्+शम्भु:सन्च्+छम्भु:** बना। पुन: **स्तो:श्चुनाश्चु:** से **सन्च्+छम्भु:** में न् का ञ् बनकर **सञ्च्छम्भु:** सिद्ध हुआ।

सञ् च्छम्भु: में ञ् से परे आने वाले च् का वैकल्पिक लोप होकर **सञ् छम्भु:** बनता है। जब 'शश्छोऽटि' सूत्र से श् का वैकल्पिक छ् न बने तब **सञ्च्शम्भु:** बनेगा। जब **'शितुक्'** के द्वारा तुक् का वैकल्पिक आगम और श् का वैकल्पिक छ् न किया जाये तब केवल **सञ् शम्भु:** बनेगा।

ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम् (8.3.32)

पद के अन्त में ह्रस्व वर्ण से परे ङम् (ङ्ण्न्) प्रत्याहार का वर्ण आने पर उस पद से परे आने वाले अच् को नित्य ङमुट् का आगम हो, टित् होने के कारण यह आगम अच् के प्रारम्भ में जुड़ता है। ङम् प्रत्याहार के वर्ण से परे अच् को ङम् प्रत्याहार का आगम होता है इसलिए ङ्ण् न् से क्रमश: ङ्ण् न् का आगम होता है। जैसे–**प्रत्यङ्+आत्मा=प्रत्यङ्ङात्मा; सुगण्+ईश=सुगण्णीश:; सन्+अच्युत: =सन्नच्युत:**।

'संपरिभ्यां करोतौ भूषणे' से सम् उपसर्ग से पूर्व कृ धातु का कोई भी रूप आने पर कृ के रूप को **सुट्** आगम होता है जैसे–**सम्+सुट् कर्ता**।

समःसुटि (8.3.5)

वृत्ति–(समो रुः सुटि।)

सुट् आगम परे रहते सम् के म् को रु आदेश होता है।

इस प्रकार **सम्+स् कर्ता=सर्+स्कर्ता** बनता है। रु आदेश आने पर रु आदेश से पूर्ववर्ती स्वर विकल्प के अनुनासिक आदेश होता है अत: **सर्+स्कर्ता सँर्+स्कर्ता** बनता है। जहाँ अनुनासिक नहीं बनता वहाँ अनुस्वार का आगम होता है।[1] अत: **सँर्+स्कर्ता** बनता है।

खरवसानयोर्विसर्जनीया (8.3.15)

वृत्ति–(खरि अवसाने च पदान्तस्य रेफस्य विसर्ग:।)

जिस पदान्त र् से परे **खर्** प्रत्याहार का कोई वर्ण हो या जो पदान्त र अवसान में हो उसका विसर्ग बन जाता है अत: **संर्+स्कर्ता** तथा **सर्स्कर्ता** क्रमश: **सं:स्कर्ता** तथा **सँ:स्कर्ता** बनते हैं।

सम् पुम् तथा कान् शब्दों के अन्तिम वर्ण का जो विसर्ग बनता है उस विसर्ग को स् आदेश होना चाहिए[1] अत: **सं:स्कर्ता तथा सँ:स्कर्ता** क्रमश: **संस्स्कर्ता** तथा **सँस्स्कर्ता** बनते हैं।

---

[1] अनुनासिकात् परोऽनुस्वार:। पाणिनि 5.3.4.

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

पुमः खय्यम्परे (8.3.7)

वृत्ति–(अम्परे खयि पुमो रुः)

जब पुम् शब्द से परे **खय्** प्रत्याहार का ऐसा वर्ण हो जिससे परे **अम्** प्रत्याहार का कोई वर्ण हो तो पुम् के म् को रु आदेश हो।[2] रु का केवल र् बचता है अतः **पुम्+कोकिलः=पुर्+कोकिलः** बनता है। र् का पूर्ववर्ती उ (सम्+स्कर्ता की भांति) विकल्प से अनुनासिक तथा अनुनासिक न बनने की दशा में अनुस्वार का आगम होकर क्रमशः **पुँर्+कोकिलः** तथा **पुंर्+कोकिलः** बनते हैं। र् का विसर्ग होकर इनका रूप होगा **पुँः+कोकिलः** तथा **पुंकोकिलः**। फिर इस विसर्ग का स् होकर **पुँस्कोकिलः** तथा **पुंस्कोकिलः** सिद्ध होता है।

नश्छव्यप्रशान् (8.3.7)

वृत्ति–(अम्परे कवि नान्तस्य पदस्य रुः, न तु प्रशान् शब्दस्य)

जब नान्त पद से परे छव् प्रत्याहार का कोई ऐसा वर्ण हो जिससे परे अम् प्रत्याहार का कोई वर्ण हो, तब ऐसे पद के अन्तिम वर्ण न् को रु आदेश हो किन्तु प्रशान् के अन्तिम न् को ऐसा आदेश न हो। उदाहरण के लिए **चक्रिन्+त्रायस्व=चक्रिर्+त्रायस्व** बनेगा। तदुपरान्त वैकल्पिक अनुनासिक तथा अनुस्वार होकर **चक्रिँर्+त्रायस्व** या **चक्रिंर्+त्रायस्व** बनता है। चक्रिँर् तथा चक्रिंर् के र् को क्रमशः विसर्ग तथा स्[3] बनकर क्रमशः चक्रिँःत्रायस्व तथा चक्रिंस्त्रायस्व रूप सिद्ध होता है। प्रशान्+तनोति में प्रशान्+के न् को रु नहीं होता इसलिए यह प्रशान्तनोति ही रहता है।

कानाम्रेडिते (8.3.12)

वृत्ति–(कान्नकारस्य रुः स्यादाम्रेडिते।)

कान् के अन्तिम वर्ण न् को रु आदेश हो जब उससे परे आम्रेडित हो। अतएव कान्+कान्[4] में पहिले कान् के न्को रु आदेश होगा क्योंकि इसके बाद आम्रेडित (दूसरा कान्) आया है। अतः **कान्+कान्=कार्+कान्** तदुपरान्त पुंस्कोकिल की तरह पहिले **कार्+कान्** एवं **कार्+कान्**, फिर **काँ+कान्** एवं **काँः+कान्** एवं **काँस्कान्** तथा **कांस्कान्** बनेंगे।

4.3.8 छत्व सन्धि

---

[1] सपुंकानां सो वक्तव्यः। वार्तिक

[2] पुमः खय्यम्परे। पाणिनि 8.3.6.

[3] विसर्जनीयस्य सः (खर् प्रत्याहार का कोई वर्ण परे रहने पर विसर्ग को सकार आदेश हो)। पाणिनि 8.3.34.

[4] जब किसी भी शब्द का दो बार उच्चारण किया जाये तब उसमें परवर्ती शब्द आम्रेडित कहलाता है जैसे कान् कान् में बाद वाला कान् आम्रेडित है।

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

छे च (6.1.73)

वृत्ति–(ह्रस्वस्य छे तुक्)

ह्रस्व स्वर के बाद यदि छकार आये तो ह्रस्व स्वर को तुक् का आगम होता है। तुक् का केवल त् बचता है एवं कित् होने के कारण यह ह्रस्व स्वर के बाद आता है। अतएव **शिव+छाया** में शिव के बाद त् का आगम होकर **शिवत्+छाया** बनेगा; तदुपरान्त **स्तोः श्चुना श्चुः** से त् का च् आदेश होने पर **शिवच्छाया** रूप सिद्ध हुआ।

पादन्ताद् वा (6.1.76)

वृत्ति–(दीर्घात्पदान्ताच्छे तुग्वा।)

पदान्त दीर्घ स्वर से परे आने पर पदान्त दीर्घ स्वर को विकल्प से **तुक्** का आगम होता है। जैसे–**लक्ष्मी+छाया=लक्ष्मीत्+छाया=लक्ष्मीच्छाया** बना। विकल्प से तुक् का आगम न होने पर लक्ष्मीछाया ही रहता है।

4.4 सारांश

प्रिय विद्यार्थियो! इस पाठ में आपने लघुसिद्धान्तकौमुदी आधारित हल् अथवा व्यञ्जन सन्धि के **'स्तोः श्चुना श्चुः'** से **'पादन्ताद् वा'** पर्यन्त सूत्रों का विस्तारपूर्वक अध्ययन किया। जिसके अन्तर्गत आपने श्चुत्व, ष्टुत्व, जश्त्व, अनुनासिक, पूर्व-परसवर्ण, अनुस्वार एवं छत्व–इन हल् सन्धियों को सूक्ष्म रूप से जाना। साथ ही सामान्य नियम के अपवादस्वरूप विशेष नियमों का भी ज्ञान प्राप्त किया, यथा-**स्तोः श्चुना श्चुः** सूत्र के अनुसार शकार और चवर्ग के योग में सकार और तवर्ग को क्रमशः शकार एवं चवर्ग होने का नियम है। किन्तु इस सूत्र के अनन्तर **'शात्'** सूत्र उपर्युक्त कथन का निषेध करता है, जिसको समझकर आपने जाना कि पदान्त शकार से परे तवर्ग का चवर्ग नहीं होगा। इसी प्रकार **'ष्टुना ष्टुः'** सूत्र के सामान्य नियम का बाध या निषेध करने के लिए **'न पदान्ताट्टोरनाम्'** यह अपवादसूत्र आ जाता है। इसी प्रकार से अन्य उदाहरणों को भी आपने पढ़ा। हल् सन्धि में जब एक स्थानी के स्थान पर अनेक आदेशों की प्राप्ति हो अथवा कई स्थानों पर उच्चारण स्थान की सादृश्यता होने पर भी एक से अधिक आदेशों की प्राप्ति होती है, तो ऐसी स्थिति में गुणकृत सादृश्य का आश्रय लेकर बाह्य प्रयत्नों का सादृश्य भी देखना चाहिए। इसके अतिरिक्त इस पाठ में आपने पदान्त मकार में नियमानुसार होने वाले परिवर्तनों को भी जाना। साथ ही पूर्वसवर्ण, परसवर्ण तथा छत्व आदि सन्धियों को भी भली-भाँति समझा।

4.5 शब्दावली

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

हल् सन्धि – व्यञ्जनों में परस्पर होने वाली सन्धि को हल् सन्धि कहते हैं। किन्तु कहीं-कहीं हल् से परे अच् हो तो भी वहाँ हल् सन्धि ही होती है।

पदान्त – पद (सुबन्त व तिङन्त) के अन्त को पदान्त कहते हैं।

श्चुत्व – श्चुत्व का अर्थ है–तालव्य शकार और चुत्व यानि चवर्ग–इन दोनों का नियमानुसार स्थानी के स्थान पर प्राप्त होना।

जश्त्व – जश्त्व का अर्थ है जश् प्रत्याहार का आदेश के रूप में प्राप्त होना। जश् प्रत्याहार में वर्गों के तृतीय वर्ण समाहित हैं।

अनुनासिक – **'मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः'** अर्थात् मुख और नासिका दोनों से जिन वर्णों का उच्चारण किया जाता है, उन्हें अनुनासिक कहते हैं।

परसवर्ण – परसवर्ण का अर्थ है–पर में जो वर्ण है, उसके सवर्णियों में से आदेश होना।

आगम – **'मित्रवदागमा भवन्ति'** अर्थात् आगम मित्र की भाँति होते हैं, जो किसी वर्ण के पास में आकर बैठ जाते हैं।

आदेश – **'शत्रुवदादेशा भवन्ति'** अर्थात् आदेश शत्रु की भाँति होते हैं, जो किसी वर्ण को हटाकर स्वयं उस स्थान पर बैठते हैं।

4.6 सन्दर्भ–ग्रन्थ

- ***लघुसिद्धान्तकौमुदी***, चन्द्रकला नामक हिन्दी व्याख्या, डॉ. अर्कनाथ चौधरी, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर, 2001
- ***लघुसिद्धान्तकौमुदी***, धरानन्द शास्त्री, मूल एवं हिन्दी व्याख्या, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2003
- ***लघुसिद्धान्तकौमुदी*** (भैमी व्याख्या), भीमसेन शास्त्री, प्रथम भाग, भैमी प्रकाशन, दिल्ली, 1983।
- ***लघुसिद्धान्तकौमुदी***, प्रकाशिका नाम्नी हिन्दी व्याख्या, सत्यपाल सिंह, शिवालिक पब्लिकेशन, दिल्ली, 2014
- शर्मा 'ऋषि', डॉ. उमाशंकर–***संस्कृत साहित्य का इतिहास***, चौखम्भा भारती अकादमी, वाराणसी, 2014

4.7 अभ्यास प्रश्न

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

1. निम्न सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या कीजिए–

   (क) स्तोः श्चुना श्चुः।

   (ख) झलां जशोऽन्ते।

   (ग) झयो होऽन्यतरस्याम्।

2. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।

   (क) जश् प्रत्याहार में .... वर्ण आते हैं।

   (ख) पदान्त झल् के स्थान पर .... आदेश होगा।

   (ग) **'न पदान्ताट्टोरनाम्'** यह .... सूत्र है।

   (घ) 'तद् + शिवः' यह .... सूत्र का उदाहरण है।

   (ङ) मकारान्त पद के अन्त्य को अनुस्वार होता है, ... के परे होने पर।

3. ष्टुना ष्टुः सूत्र को उदाहरण सहित समझाइए।

4. मोऽनुस्वारः और नश्चापदान्तस्य झलि इन दोनों सूत्रों की तुलना कीजिए।

5. निम्न में से किन्हीं दो पदों की सिद्धि कीजिए।

क.	सच्चित्	ख.	तट्टीका
ग.	वागीशः	घ.	वाग्घरिः

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

पाठ–5

लघुसिद्धान्तकौमुदी

सन्धि प्रकरण : विसर्ग सन्धि–सत्व, रुत्व, उत्व एवं लोप सन्धि

संरचना

5.1 उद्देश्य
5.2 प्रस्तावना
5.3 विसर्ग सन्धि– **'विसर्जनीयस्य सः'** सूत्र से **'सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम्'** सूत्र पर्यन्त
 5.3.1 सत्व सन्धि
 5.3.2 रुत्व सन्धि
 5.3.3 उत्व सन्धि
 5.3.4 यत्व सन्धि
 5.3.5 लोप सन्धि
5.4 सारांश
5.5 शब्दावली
5.6 सन्दर्भ–ग्रन्थ
5.7 अभ्यास प्रश्न

5.1 उद्देश्य

इस पाठ के अध्ययन के उपरान्त विद्यार्थी–

- विसर्ग सन्धि के अर्थ से परिचित होंगे।
- विसर्ग सन्धि में **'विसर्जनीयस्य सः'** से **'सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम्'** पर्यन्त सभी सूत्रों के अर्थ एवं उदाहरणादि से अवगत होंगे।
- विसर्ग सन्धि के भेदों–सत्व, रुत्व, उत्व एवं लोप आदि में सन्धि व सन्धिविच्छेद के नियमों को समझ पाएंगे।

© *Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi*

- सामान्य नियमों के प्रसंग में अपवाद रूप निषेधार्थक विधिसूत्रों की प्रक्रिया से परिचित हो सकेंगे।
- त्रिपादिस्थ सूत्रों के उत्तरोत्तर असिद्धत्व तथा उनके पूर्वापर कार्यविधि को भी समझ सकेंगे।

5.2 प्रस्तावना

प्रिय छात्रो! पूर्व के पाठों में आपने अच् सन्धि एवं हल् सन्धि को भलीभाँति समझ लिया है। अब विसर्ग से सम्बद्ध सन्धि को पढ़ते हैं। सामान्यत: विसर्ग को अक्षरों के बाद लगे दो बिन्दु (:) के रूप में हम जानते हैं। स्वर अथवा व्यञ्जन के सम्बन्ध के कारण विसर्ग के स्थान पर जो परिवर्तन होता है, उसे सन्धि कहा जाता है। वस्तुत: विसर्ग रेफ से बनता है और विसर्ग बनने वाला रेफ प्राय: स् से बनता है। यह सब **'ससजुषो रुँ:'** सूत्र से स्पष्ट करेंगे कि स् को रुँ और आगे पुन: उसका विसर्ग कैसी स्थिति में बनता है। किन्तु विशेष परिस्थितियों में उस रेफ के स्थान पर उकार आदेश अथवा यकार आदेश अथवा रेफ से परे रेफ होने पर रेफ का लोप भी प्राप्त होता है। उक्त सभी नियमों का अध्ययन आप प्रस्तुत पाठ में करने जा रहे हैं–

5.3 विसर्ग सन्धि–'विसर्जनीयस्य स:' सूत्र से 'सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम्' सूत्र पर्यन्त

5.3.1 सत्व सन्धि

विसर्जनीयस्य स: (8.3.34)

वृत्ति–(खरि)

(क) खर् प्रत्याहार का कोई वर्ण परे रहने पर विसर्ग को रु आदेश हो। जैसे–**विष्णु:+त्राता–विष्णुस्त्राता।**

वा शरि (8.3.36)

वृत्ति–(शरि विसर्गस्य विसर्गोवा।)

यदि विसर्ग से परे शर् प्रत्याहार का कोई वर्ण हो तो विकल्प से विसर्ग का विसर्ग ही हो। जैसे–**हरि:+शेते=हरिस्+शेते=हरिश्+शेते(स्तो: श्चुना श्चु:** से हरिस् के स् का श्)**हरिश्शेते** बन जाता है। विकल्प से विसर्ग का **स् न** बनने पर यह **हरि: शेते** ही रहेगा।

5.3.2 रुत्व सन्धि

ससजुषो रु: (8.2.66)

वृत्ति–(पदान्तस्य सस्य सजुषश्च रु: स्यात्)

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

पदान्त सकार और सजुष् के अन्तिम वर्ण को रु आदेश होता है। जैसे–**अग्निस्+अत्र= अग्निर्+अत्र=अग्निरत्र; शिवस्+अर्च्यः=शिवर्+अर्च्य=शिव उ+अर्च्यः**(अप्लुत अकार से परे आने वाले रुआदेश का उ बन जाता है यदि उससे परे अप्लुत अकार हो) =**शिवो+अर्च्यः** (शिव के अ और उ में गुण सन्धि)=**शिवोऽर्च्यः**(पूर्वरूप सन्धि) रूप सिद्ध होता है।

5.3.3 उत्व सन्धि

हशि च (6.1.144)

अप्लुत अकार से परे आने वाले अ के स्थान पर उ हो यदि उससे परे हश् प्रत्याहार का कोई वर्ण हो। उदाहरणतया–**शिवस्+वन्द्यः=शिवर्+वन्द्यः** (ससजुषो रुः से शिवस् का शिवर्) **शिव+उ+वन्द्यः= शिवो वन्द्यः** (शिव+उ में गुण सन्धि)।

5.3.4 यत्व सन्धि

भो भगो अघो अपूर्वस्य योऽशि (8.3.17)

जिस रु आदेश से पूर्व भी **भगो अघो** तथा **ह्रस्वअ** हो उस आदेश का **य्** हो यदि उस आदेश से परे अश् प्रत्याहार का कोई वर्ण हो। जैसे–**भोस्+देवाः, भगोस्+नमस्ते, अघोस्+याहि, देवास्+इह**। पहले **ससजुषो रुः** से **भोर्+देवाः,भगोर्+नमस्ते, अघोर्+याहि, देवार्+इह** बनते हैं तदुपरान्त इस नियम से **भोय् देयाः, भगोय् नमस्ते, अघोय् याहि** तथा **देवाइह** बनते हैं इसके उपरान्त **'हलि सर्वेषाम्'** सूत्र से भो देवाः, भगो नमस्ते, अघो याहि, देवा इह बनते हैं।

रोऽसुपि (8.2.69)

वृत्ति–(अह्नो रेफादेशो न तु सुपि)

अहन् शब्द के अन्तिम वर्ण न् को र् आदेश हो परन्तु सुप् प्रत्यय परे रहते यह आदेश न हो, जैसे–**अहन्+गणः=अहर्=अहर्गणः**। इसी तरह **अहन्+अहः=अहर्+अहः=अहरहः** बनता है।

5.3.5 लोप सन्धि

रो रि (8.3.14)

वृत्ति–(रेफस्य रेफे परे लोपः)

र् से परे र् होने पर पूर्ववर्ती र् का लोप हो जाता है और उस लोप होने वाले र् से पूर्ववर्ती अ इ उ ह्रस्व स्वरों को दीर्घ हो जाता है।[2] जैसे–**पुनर्+रमते** में **पुनर्** के **र्** का लोप होकर **पुन+रमते** बना,**पुनः पुन**

---

[1] जिस य् से पूर्व भो, भगो, अघो तथा अ हो उसका लोप हो यदि उससे परे कोई हल् (व्यञ्जन) हो (8.3.22)

[2] ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः। पाणिनि 6.3.111

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

के अन्तिम अ (लोप होने वाले र् से पूर्व का अ) दीर्घ होकर पुना रमते रूप सिद्ध हुआ। इसी प्रकार **हरिर्+रम्य:=हरी रम्य:** बनता है।

मनस्+रथ: से **'ससजुषो रु:'** में मनस् के स् का र् होकर **मनर्+रथ:** रूप सिद्ध होता है। ऐसी स्थिति में दो परस्पर विरोधी सूत्र लागू होते हैं। **'हशि च'** सूत्र से र् आदेश को उ की प्राप्ति होती है तथा 'रो रि' सूत्र से इस र् का लोप प्राप्त होता है। यदि कहीं पर ऐसे दो सूत्र लगते हों जिनका बल बराबर है तो जो सूत्र(पाणिनि के व्याकरण अष्टाध्यायी में) परवर्ती हो (बाद में आता है) उसे लगाना चाहिए अत: यहाँ रोरि सूत्र परवर्ती है। परन्तु परवर्ती सूत्र द्वारा किया गया कार्य (**पूर्वत्रासिद्धम्** सूत्र के कारण) पूर्ववर्ती सूत्र की दृष्टि में असिद्धवत् होता है अत: (**मनर्रथ=मन उ रथ:**(**हशि च** सूत्र के द्वारा)=**मनोरथ:**(मन उ में गुण सन्धि) बनेगा।

एतत्तदो: सुलोपोऽकोरनञ् समासे हलि (6.1.132)

एतद् तथा तद् सर्वनाम के जिस रूप में ककार (क) न हो उसके पदान्त में आने वाले प्रथमा एकवचन की विभक्ति सु (स्) का लोप हो, व्यञ्जन परे रहते, परन्तु नञ् समास में न हो। जैसे–**एषस्+विष्णु:=एष विष्णु: सस्+शम्भु:,स शम्भु**। इन उदाहरणों में एषस् एवं सस् के स् का लोप हुआ। परन्तु ककार वाले रूप में यह नहीं होता। जैसे–**एषकस्+रुद्र:=एषको रुद्र:**(**'ससजुषो रु:'** से स् को र् तथा **'हशि च'** से र् का उ, तदुपरांत गुण सन्धि)। इसी प्रकार नञ् समास में भी लोप नहीं होता है। जैसे–**असस्(न अस् असस्)+शिव:=असश्शिव:**(**स्तो: श्चुना श्चु:** से स् को श्)।

सोऽचि लोपे चेत् पादपूरणम् (6.1.134)

अच् परे रहते प्रथमा एकवचन पुल्लिंग सर्वनाम रूप सस् के अन्तिम स् का लोप हो यदि छन्द के पाद की पूर्ति (अक्षर संख्या की दृष्टि से) इसके लोप करने पर ही होती है। जैसे–**सस्+एष दाशरथी राम:=सएष दाशरथी राम:=सैष दाशरथी राम:।** इसमें सस् के स् का लोप करके फिर स+एष: की वृद्धि सन्धि करके सैष सिद्ध किया गया है। इसमें सस् के स् का लोप करने से अक्षर संख्या पूरी आठ हो गई है अन्यथा लोप न करने पर स एष रूप बनता और अक्षर संख्या नौ रह जाती जो वाञ्छित नहीं थी। अत: यह लोप पादपूर्ति के लिए आवश्यक है।

5.4 सारांश

सन्धि प्रकरण के अन्तर्गत पठित इस पाठ में आपने विसर्ग सन्धि के सभी महत्त्वपूर्ण सूत्रों को भलीभाँति समझा। जिसमें आपने सर्वप्रथम जाना कि खर् परे होने पर विसर्ग के स्थान पर सकार आदेश होता है। इसी नियम के अपवादस्वरूप **'वा शरि'** सूत्र द्वारा वैकल्पिक स्थिति को भी जाना। उसके पश्चात् आपने पढ़ा कि पदान्त सकार एवं सजुष् शब्द के षकार के स्थान पर रुत्व आदेश आता है। अवसान एवं खर् परे होने पर

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

रेफ को पुनः विसर्ग हो जाता है। विसर्ग से सम्बन्धित यहाँ तक की प्रक्रिया में चार सूत्रों का अत्यधिक महत्त्व है; यथा–**ससजुषो रुः** से सकार के स्थान पर रुत्व किए जाने के पश्चात् **विरामोऽवसानम्** से अवसान संज्ञा होकर **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** से विसर्ग हो जाता है। तदनन्तर विसर्जनीयस्य सः से विसर्ग के स्थान पर सकार आदेश होता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि सकार आदेश से पूर्व विसर्ग होना आवश्यक है तथा विसर्ग होने से पूर्व सकार के स्थान पर सत्व होना अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त विसर्ग के स्थानी रेफ के स्थान पर होने वाले उकारादेश, यकारादेश, रेफ का लोप आदि का भी ज्ञान प्राप्त किया। विसर्ग सन्धि में कई स्थानों पर उत्व आदि को गुणादेश होता है। भाषिक दृष्टि से अति महत्त्वपूर्ण विसर्ग सम्बन्धी विषयों का आपने इस पाठ में विस्तारपूर्वक अध्ययन किया।

5.5 शब्दावली

विसर्जनीय – यह विसर्ग का पर्यायवाची है अर्थात् विसर्ग को ही विसर्जनीय कहा जाता है।

लुक् – लोप

अवसान – समाप्त होना। व्याकरण की दृष्टि से वर्णों का अभाव हो जाना अवसान कहलाता है।

निपात – (चादयोऽसत्त्वे, स्वरादिनिपातमव्ययम्) अर्थात् च, या, ह आदि को निपात कहते हैं, सभी निपात अव्यय होते हैं।

परसूत्र – अष्टाध्यायी के क्रम से जो सूत्र 'पर' अर्थात् बाद का हो, उसे परसूत्र कहते हैं।

परकार्य – परसूत्र के द्वारा किए जाने वाले कार्य को परकार्य कहा जाता है।

तुल्यबलविरोध – पृथक्-पृथक् स्थानों पर कार्य कर चुके सूत्र यदि कहीं एक साथ कार्य करने हेतु प्रवृत्त हो जाएँ, तो उनमें परस्पर तुल्यबलविरोध माना जाता है।

5.6 सन्दर्भ-ग्रन्थ

- ***लघुसिद्धान्तकौमुदी***, चन्द्रकला नामक हिन्दी व्याख्या, डॉ. अर्कनाथ चौधरी, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर, 2001
- ***लघुसिद्धान्तकौमुदी***, धरानन्द शास्त्री, मूल एवं हिन्दी व्याख्या, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2003
- ***लघुसिद्धान्तकौमुदी*** (भैमी व्याख्या), भीमसेन शास्त्री, प्रथम भाग, भैमी प्रकाशन, दिल्ली, 1983।
- ***लघुसिद्धान्तकौमुदी***, प्रकाशिका नाम्नी हिन्दी व्याख्या, सत्यपाल सिंह, शिवालिक पब्लिकेशन, दिल्ली, 2014

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

- शर्मा 'ऋषि', डॉ. उमाशंकर–***संस्कृत साहित्य का इतिहास***, चौखम्भा भारती अकादमी, वाराणसी, 2014

5.7 अभ्यास–प्रश्न

1. निम्न सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या कीजिए–

   (क) विसर्जनीयस्य सः।

   (ख) अतो रोरप्लुतादप्लुते।

   (ग) रो रि।

2. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।

   (क) खर परे होने पर विसर्ग के स्थान पर .... आदेश होता है।

   (ख) अतो रोरप्लुतादप्लुते .... विधायक सूत्र है।

   (ग) हश् प्रत्याहार में .... वर्ण आते हैं।

   (घ) .... 'रेफ लोप' विधायक सूत्र है।

   (ङ) तुल्यबल वाले सूत्रों में विरोध होने पर .... होता है।

3. 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' सूत्र की कार्यविधि को समझाइए।

4. रुत्व आदेश एवं यत्व आदेश करने वाले सूत्रों पर टिप्पणी लिखिए।

5. निम्न पदों में से किन्हीं दो की सिद्धि कीजिए।

   क. हरिः शेते   ख. शिवो वन्द्यः

   ग. अहर्गणः   घ. मनोरथः

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

पाठ–6 इकाई–III

लघुसिद्धान्तकौमुदी

कारक तथा विभक्ति

संरचना

6.1 उद्देश्य
6.2 प्रस्तावना
6.3 कारक का अर्थ एवं परिभाषा
6.4 कारक के भेद
6.5 कारक विभक्ति
  6.5.1 प्रथमा विभक्ति
  6.5.2 द्वितीया विभक्ति
  6.5.3 तृतीया विभक्ति
  6.5.4 चतुर्थी विभक्ति
  6.5.5 पंचमी विभक्ति
  6.5.6 षष्ठी विभक्ति
  6.5.7 सप्तमी विभक्ति
6.6 सारांश
6.7 शब्दावली
6.8 सन्दर्भ–ग्रन्थ
6.9 अभ्यास प्रश्न

6.1 उद्देश्य

इस पाठ के अध्ययन के उपरान्त आप–

- कारक के अर्थ एवं परिभाषा से अवगत होंगे।
- कारक के छः भेदों के विषय में पढ़ेंगे, तत्सम्बन्धी सूत्रों के अर्थ को भी जानेंगे।

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

- कारक एवं विभक्ति के पारस्परिक सम्बन्ध को समझ सकेंगे।
- कारक की सात विभक्तियों एवं उनके प्रयोग का ज्ञान कर सकेंगे।
- प्रातिपदिक, अभिहित एवं अनभिहित आदि के अर्थ से परिचित होंगे।
- कारक विभक्ति एवं उपपद विभक्ति में अन्तर को समझ सकेंगे।

6.2 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियो! इससे पूर्व के पाठों में आपने लघुसिद्धान्तकौमुदी में पठित संज्ञा प्रकरण एवं सन्धि प्रकरण का सूक्ष्म अध्ययन किया। इस पाठ में आप 'कारक-प्रकरण' को पढ़ेंगे। जिसमें कारकों का निरूपण किया जाएगा। वस्तुत: इस प्रकरण का उचित नाम 'विभक्त्यर्थ-प्रकरण' है, इसमें विभक्तियों के अर्थ का निर्णय और निरूपण किया गया है। जहाँ कारक अर्थ हैं और विभक्तियाँ उनको प्रकट करने के चिह्न। यही कारक और विभक्तियों में परस्पर अन्तर है। इस पाठ में कर्त्ता और कर्म आदि छ: कारक कहे गए हैं तथा उनको प्रकट करने वाली प्रथमा आदि सात विभक्तियाँ किस-किस अर्थ में आती हैं, यह भी बताया गया है। साथ ही प्रातिपदिकार्थ, उक्त, अनुक्त, ईप्सित, अकथित आदि के अर्थों को भी यथास्थान स्पष्ट किया है। उपर्युक्त सात विभक्तियाँ कारकों के अतिरिक्त कुछ पदों के योग में भी प्रयुक्त होती हैं। अत: कारकों को प्रकट करने वाली विभक्तियाँ कारक-विभक्ति कही जाती हैं तथा पदों के योग में आने वाली विभक्ति उपपद-विभक्ति कहलाती है। इस पाठ में आप इन सभी विषयों का विस्तृत अध्ययन करने जा रहे हैं।

6.3 कारक का अर्थ एवं परिभाषा

संस्कृत के वैयाकरणों ने कारक की परिभाषा दी है–**'क्रियान्वयित्वं कारकत्वम्'** अर्थात् वाक्य में जिस द्रव्य-पदार्थ अथवा संज्ञाशब्द का क्रिया से सीधा और व्यवधानरहित सम्बन्ध होता है, उसे कारक कहते हैं। संज्ञाशब्द का क्रिया से सम्बन्ध कर्ता, कर्म, करण आदि रूपों में हो सकता है, अत: इस सम्बन्ध के आधार पर कारक भी अनेक हैं, यथा-कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान तथा अधिकरण। ध्यान देने योग्य बात यहाँ यह है कि जिस नामशब्द अथवा द्रव्य पदार्थ का क्रिया से साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता उसे कारक नहीं कहा जा सकता है, जैसे 'राज्ञ: पुरुष: आदेशं पालयति'। इस वाक्य में 'राज्ञ:' जो षष्ठी-विभक्तियुक्त नामशब्द है, कारक नहीं है क्योंकि उसका 'पालयति' क्रिया से सीधा सम्बन्ध नहीं है। 'राज्ञ:' क्या साक्षात् सम्बन्ध तो 'पुरुष:' तथा 'आदेशम्' से है। 'क: पालयति?' कौन पालन करता है? उत्तर होगा–'पुरुष:'। 'किं पालयति' क्या पालन करता है? इसका उत्तर होगा–'आदेशम्'। इस प्रकार क्रिया से साक्षात् सम्बन्ध होने से 'पुरुष:' तथा 'आदेशम्' क्रमश: कर्ता कारक तथा कर्मकारक है। 'राज्ञ: पालयति', राजा का पालन करता है, इस प्रकार का प्रयोग लोक व्यवहार में न होने से षष्ठ्यन्त 'राज्ञ:' कारक नहीं हो सकता।

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

कारक तथा विभक्ति पर्यायवाची नहीं हैं। प्राय: विद्यार्थी कारक एवं विभक्ति को एक मानने की भूल कर बैठते हैं। प्रथमा से लेकर सप्तमी तक विभक्तियाँ तो सात हैं किन्तु षष्ठी अर्थात् सम्बन्ध विभक्ति कारक न होने के कारण कारकों की संख्या छ: है।[1] षष्ठी विभक्ति तो केवल शब्दों के पारस्परिक सम्बन्ध मात्र को बताती है। उसका क्रिया से सीधा सम्बन्ध नहीं होता। कहा जा सकता है कि षष्ठी विभक्ति का भी किसी-न-किसी रूप में अप्रत्यक्ष रूप से क्रिया से सम्बन्ध तो है ही, फिर क्यों न इसे भी कारक माना जाए? वास्तव में इसी संदेह के निराकरण के लिए कारक की परिभाषा देते हुए स्पष्ट किया गया है कि विभक्तियुक्त पद का क्रिया से साक्षात् (सीधा) सम्बन्ध होना चाहिए तभी वह कारक है अन्यथा नहीं। परम्परागत सम्बद्ध विभक्ति कारक नहीं होती।

यहाँ पर यह बात स्पष्ट कर दी जाए कि कर्तृ कारक दो विभक्तियों द्वारा बोध्य है। 'कर्तृ वाच्य' में कर्ता प्रथमा-विभक्त्यन्त होता है और कर्मवाच्य तथा भाववाच्य में कर्ता तृतीयान्त होता है। 'राम: ग्रामं गच्छति', इस कर्तृवाच्य के वाक्य में 'कर्ता' राम प्रथमान्त है। किन्तु जब इसी वाक्य को कर्मवाच्य में बदल कर 'रामेण ग्राम: गम्यते' कहा जाएगा तब प्रथमान्त 'राम:' तृतीयान्त 'रामेण' हो जाएगा। यहाँ द्रष्टव्य यह भी है कि ग्राम का कर्मत्व 'गम्यते' क्रिया द्वारा व्यक्त हो जाने के कारण 'ग्रामम्' द्वितीयान्त रूप न रहकर ग्राम के प्रतिपदिकार्थ मात्र में प्रथमा आती है। इसलिए यह भ्रम न करना चाहिए कि जो विभक्ति होती है वह कारक भी होता है। वस्तुत: कारक बोध्य होता है और विभक्तियाँ उसकी बोधक चिह्न। विभक्ति के माध्यम से कारक का बोध होता है।

विभक्तियाँ दो प्रकार की होती हैं–कारक विभक्ति तथा उपपद विभक्ति। कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण–इन कारकों का साक्षात् बोध कराने वाली विभक्तियाँ कारक विभक्तियाँ कहलाती हैं। यथा–'राम: रावणं बाणेन लोककल्याणाय अयोध्यानगरात् आगत्य लंकायां हतवान्'–इस वाक्य में क्रमश: 'राम:' आदि में प्रथमादि विभक्तियाँ कारक विभक्तियाँ हैं। परन्तु जो विभक्तियाँ किन्हीं विशिष्ट पदों तथा अव्ययों (बिना, धिक्, अलम्, सह) के योग में प्रयुक्त होती हैं वे उपपद विभक्तियाँ कहलाती हैं। 'जनकेन सह पुत्र: नगरं गच्छति'–इस वाक्य में 'सह' अव्यय के योग में तृतीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है।

यहाँ यह बात ध्यातव्य है कि अनेक बार कारक विभक्ति और उपपद विभक्ति में परस्पर विरोध दिखाई पड़ता है। ऐसे स्थलों में कारक विभक्ति उपपद विभक्ति से अधिक बलवती हो जाती है।[2] उदाहरण के रूप में 'नम:' पद के योग में उपपद विभक्ति चतुर्थी का विधान है। अत: 'हरये नम:' वाक्य में नम: अव्यय के साथ चतुर्थ्यन्त 'हरये' का प्रयोग है। किन्तु जब नम+करोति कहा जायेगा तब हरि में कर्मकारकत्व

---

[1] कर्ता कर्म च करणं सम्प्रदानं तथैव च।
अपादानाधिकरणमित्याहु: कारकाणि षट्।।

[2] उपपदविभक्ते: कारकविभक्तिर्बलीयसी।

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

अ जायेगा। नमस्कार करने वाले व्यक्ति (कर्त्ता) को नमस्करण क्रिया के द्वारा अभीष्ट हरि है[1] अत: कर्मकारक के नियमानुसार हरि में द्वितीया विभक्ति आएगी और वाक्य बनेगा 'हरि नमस्करोति' न कि 'हरये नमस्करोति'।

कारक-परिभाषा, कारक-संख्या, कारक विभक्ति, उपपद विभक्ति आदि के परिचय के पश्चात् अब प्रत्येक कारक तथा विभक्ति का पृथक्-पृथक् विवेचन किया जाएगा।

6.4 कारक के भेद

कर्त्ता कारक

कर्त्ता का अर्थ हे करने वाला। कर्तृवाच्य के वाक्य में कर्त्ता का निर्देश प्रथमा विभक्ति से किया जाता है।[2] जैसे–'राम: ग्रन्थं पठति'। यहाँ 'राम' कर्त्ता है और प्रथमान्त है। कर्मवाच्य में यही कर्त्ता 'राम:' तृतीया विभक्ति द्वारा निर्दिष्ट होता है[3], जैसे–'रामेण ग्रन्थ: पठ्यते' (कर्मवाच्य) तथा 'रामेण शय्यते' (भाववाच्य)।

कर्म कारक

जिस पुरुष या वस्तु के ऊपर किसी क्रिया का फल या प्रभाव पड़ता है वह उस क्रिया का कर्म होता है। कर्तृवाच्य में कर्म कारक को द्वितीया विभक्ति सूचित करती है। जैसे–'राम: ग्रन्थं पठति' में 'ग्रन्थ' में द्वितीया विभक्ति इसके कर्म होने की सूचक है। 'रामेण ग्रन्थ: पठ्यते' आदि कर्मवाच्य के प्रयोगों में कर्म (ग्रन्थ:) में प्रथमा विभक्ति ही प्रयुक्त होती है। 'पुस्तकस्य पठनम्' तथा 'देवदत्तस्य गमनम्' आदि भाववाच्य के प्रयोगों में जहाँ कृदन्त संज्ञाएँ प्रयुक्त होती हैं, षष्ठी विभक्ति कर्म को सूचित करती है। ऐसे स्थलों में षष्ठी विभक्ति कारक विभक्ति का काम करती है।

करण कारक

क्रिया के साधन को 'करण' करते हैं जिसे दोनों ही रूपों–धातुरूप और कृदन्त रूपों–के साथ तृतीया विभक्ति द्वारा सूचित किया जाता है। जैसे–'व्याध: मृगं बाणेन हन्ति' में 'बाणेन हन्ति' में 'बाणेन' करण कारक 'हन्ति' धातुरूप के साथ तृतीया विभक्ति से सूचित है और 'व्याधेन मृगो बाणेन हत:' में हत: कृदन्त पद के साथ भी साधन (बाणेन) तृतीया विभक्ति से सूचित है।

---

1 कर्तुरीप्सिततमं कर्म–पाणिनि: 1/4/49

2 यद्यपि 'पठति' आदि क्रिया के 'तिङ्' आदि प्रत्यय द्वारा कर्ता उक्त हो जाने से प्रथमा का अर्थ कर्ताकारक नहीं होता, यद्यपि व्यवहार में 'पठति' आदि क्रिया का कर्ता 'राम' आदि हो सकता है अत: कर्तृवाच्य में कर्ता में प्रथमा विभक्ति मानी जाती है।

3 कर्तृकरणयोस्तृतीया–पाणिनि: 2/2/18

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

सम्प्रदान कारक

जिसको कोई वस्तु दी जाए उसे सम्प्रदान कहते हैं। सम्प्रदान कारक को सदा चतुर्थी विभक्ति सूचित करते हैं जैसे–'दरिद्राय धनं ददाति' में दरिद्र शब्द में, जिसके लिए धन दिया जाता है, चतुर्थी विभक्ति लगाई गई है।

अपादान कारक

जिस पुरुष, स्थान या वस्तु से मनः कल्पित अथवा प्रत्यक्ष वियोग (पृथकता) होता है, वह अपादान होता है। इसे पंचमी विभक्ति सूचित करती है। जैसे–'ग्रामाद् देवदत्तः आगच्छति' या 'वृक्षात् पत्रं पतित पतति' में 'ग्रामाद्' और 'वृक्षात्' जिनसे देवदत्त एवं वृक्ष की पृथक्कता सूचित की गई है। पंचमी विभक्ति में है जो अपादान कारक की सूचक है।

अधिकरण कारक

जिस स्थान या आधार पर क्रिया होती है (क्रिया का आधार अथवा स्थान) उसे अधिकरण कहते हैं। अधिकरण कारक में सदा सप्तमी विभक्ति आती है। जैसे–'देवदत्तः रथे गच्छति' या 'देवदत्तः आसने उपविशति' में 'रथ' और 'आसन' अधिकरण है और उन्हें सप्तमी विभक्ति–'रथे, आसने'–सूचित करती है।

6.5 कारक विभक्ति

छः कारकों का, जिन्हें विभक्तियाँ सूचित करती हैं, उल्लेख करने के बाद अब हम विभक्तियों के प्रयोग पर विचार करते हैं जो कारकों की अपेक्षा अधिक व्यापक हैं। विभक्तियाँ न केवल कारक को सूचित करने के लिए ही अपितु कुछ विशेष शब्दों (विशेष रूप से अव्ययों) के योग के कारण भी प्रयुक्त होती हैं जिनका नीचे उल्लेख किया गया है।

6.5.1 प्रथमा विभक्ति

प्रथमा विभक्ति केवल प्रातिपादिक अर्थात् शब्द का मूल रूप, लिङ्ग, परिमाण अर्थात् नाप-तोल, वचन अर्थात् संख्यामात्र के बोध के लिए प्रयुक्त होती है।[1]

6.5.2 द्वितीया विभक्ति

(1) द्वितीया विभक्ति कारक विभक्ति के रूप में कर्म कारक की सूचक है–'देवदत्तः पुस्तकं पठति' वाक्य में 'पुस्तक' द्वितीया विभक्ति में है क्योंकि यह 'पढ़ना' क्रिया का कर्म है।

(2) संस्कृत व्याकरण में गति का उद्देश्य (जिसको लक्ष्य कर गमन होता है अर्थात् जिस स्थान को जाया जाता है) कर्म माना जाता है। 'गम्' धातु (जो अंग्रेजी भाषा में अकर्मक क्रिया है) संस्कृत में

[1] प्रतिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा।

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

सकर्मक क्रिया के रूप में प्रयुक्त की जाती है, अत: गमन क्रिया के कर्म में द्वितीया विभक्ति लगती है। जैसे–'देवदत्त: ग्रामं गच्छति' में 'ग्रामम्' शब्द में कर्म कारक होने कारण द्वितीया विभक्ति प्रयुक्त की गई है।

(3) जब अकर्मक क्रियाएँ उपसर्गों के जोड़ने से सकर्मक बन जाती हैं, जब उनके कर्म में द्वितीया विभक्ति लगती है। जैसे–'शिष्य: गुरुम् अनुवर्तते', 'स लज्जाम् अनुभवति', में उपसर्ग 'अनु' पूर्व होने से 'वृत्' तथा 'भू' धातु सकर्मक हो गई हैं और उनके कर्म 'गुरु' और 'लज्जा' में द्वितीया विभक्ति है।

(4) 'अधि' उपसर्ग पूर्वक 'शी', 'स्था' तथा 'आस्' धातुओं के योग में आधारवाचक स्थान या वस्तु में द्वितीया विभक्ति लगती है[1] जैसे–'स: शय्याम् अधिशेते' में 'शय्या' शब्द में तथा इसी प्रकार 'शय्यामधितिष्ठति', 'शय्यामध्यास्ते' में शय्याम् में द्वितीया है। 'उप', 'अनु', 'अधि' अथवा 'आ' उपसर्ग पूर्वक 'वस्' धातु का आधार कर्म होती है और उनमें भी द्वितीया विभक्ति लगती है, जैसे–'स ग्राममुपवसति', 'ग्राममधिवसति' आदि में 'ग्राम' पद कर्म है अत: उसमें द्वितीया विभक्ति का प्रयोग है। **(उपान्वध्याङ्वस:)**

(5) जब कोई क्रिया लगातार कुछ समय तक होती रहे या कोई क्रिया कुछ दूरी तक लगातार हो तो समय और दूरी के सूचक शब्दों में द्वितीया विभक्ति लगती है।[2] जैसे–'स मासं पठति' या 'स क्रोशं पठति' (वह महीना भर लगातार पढ़ता है या एक मील दूर चलते हुए लगातार पढ़ता है) में 'मासं' और 'क्रोशं' पद द्वितीया विभक्ति में है।

कारक विभक्ति के रूप में द्वितीया विभक्ति का उल्लेख पहले हो चुका है। अब हम कुछ अव्ययों के योग से होने वाले द्वितीया विभक्ति के प्रयोग पर विचार करेंगे। उनमें कुछ अव्यय ये हैं–

उभयत: सर्वत:–'ग्रामम् उभयत:' या 'ग्रामं सर्वत: वनम्' (गाँव के दोनों ओर या चारों ओर वन हैं)।[3]

उपरि उपरि या अधोऽध:–'पर्वतशिखरम् उपर्युपरि मेघानां वितान इव प्रादुरभवत्' (पर्वत की चोटी पर मेघों का शामियाना-सा तन गया) या 'मेधान् अधोऽध: पक्षिण: उत्पतन्ति' (पक्षी ठीक मेघों के नीचे उड़ रहे हैं)।

धिक्–'धिक् पापिनम्' (पापी को धिक्कार है)।

प्रति–'ग्रामं प्रति गच्छामि' (मैं गाँव की ओर जाता हूँ)।

अभित:, परित:–'महात्मानम् अभित: परितो वा जना: स्थिता:'। (महात्मा के चारों ओर मनुष्य खड़े हैं)।[1]

---

1 अधिशीङ्स्थासां कर्म।

2 कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे।

3 उभसर्वतसो: कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु।
द्वितीयाभ्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते। (वार्तिक)

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

हा–'हा देशद्रोहिणम्' (देश को धोखा देने वाले को धिक्कार है)।

अन्तरेण या अन्तरा–'त्वाम् अन्तरेण अन्तरा वा कः अस्मान् रक्षितुं समर्थः' (तुम्हारे सिवाय और कौन हमारी रक्षा कर सकता है)?[2]

द्विकर्मक क्रियाएँ

कुछ ऐसी क्रियाएँ होती हैं, जिनके दो कर्म होते हैं और उन दोनों में द्वितीया विभक्ति लगती है। ऐसी कुछ क्रियाएँ नीचे उद्धृत हैं[3]–

दुह् (दोहना, दूध निकालना)–'स गां पयः दोग्धि' (वह गौर दुहता है या गौ से दूध निकालता है)।

याच् (माँगना)–'स बलिं याचते वसुधाम्' (वह बलि को (से) पृथ्वी माँगता है)। इसी प्रकार

पच् (पकाना)–'स ताण्डुलान् ओदनं पचति' (वह चावलों का भात पकाता है)।

दण्ड् (सजा देना)–'स देवदत्तम् शतं दण्डयति' (देवदत्त को सौ (रुपयों का) दण्ड देता है)।

पृच्छ् (पूछना)–'देवदत्तम् मार्गम् पृच्छति' (देवदत्त से मार्ग पूछता है)।

ब्रू (बोलना)–'गुरुः शिष्यं शास्त्रतत्त्वम् ब्रूते' (गुरु शिष्य को शास्त्र का तत्त्व बताता है)।

नी (ले जाना)–'पिता पुत्रं गृहं नयति (पिता बेटे को घर ले जाता है)।

रुध्, चि, शास् आदि और भी अनेक धातुएँ हैं जिनके दो कर्म होते हैं, परन्तु उपर्युक्त द्विकर्मक क्रियाएँ ही अधिक प्रचलित हैं।

प्रेरणार्थक क्रियाओं का कर्म

साधारण दशा अर्थात् अणिजन्त क्रिया (अर्थात् जो णिजन्त नहीं है) में जो कर्त्ता रहता है वह णिजन्त या प्रेरणार्थक क्रिया में कर्म हो जाता है। जैसे–'देवदत्तः गीतां पठति' में अणिजन्त 'पठति' क्रिया का कर्ता 'देवदत्त' है। वही कर्त्ता 'पठति' क्रिया में णिजन्त या प्रेरणार्थक (प्रेरणा देना) हो जाने पर जैसे–'यज्ञदत्तः देवदत्तं गीतां पाठयति' (यज्ञदत देवदत्त को गीता पढ़ाता है) में 'पाठयति' णिजन्त रूप हो जाने पर 'देवदत्त' कर्म हो जाता है। इसी प्रकार 'शत्रवः स्वर्गम् अगच्छन्' (शत्रु स्वर्ग गए) इस अणिजन्त अवस्था में 'शत्रवः' कर्त्ता प्रेरणार्थक रूप 'हरिः शत्रून् स्वर्गम् अगमयत्' (हरि ने शत्रुओं को स्वर्ग भेजा) होने पर 'शत्रून्' कर्म हो

---

1 अभितः परितः समयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि। (वार्तिक)

2 अन्तराऽअन्तरेणयुक्ते।

3 दुह्याच्पच्दण्ड्रुधि पृच्छिचिब्रूशासजिमथ्मुषाम्।
कर्मयुक् स्यादकथितं तथा स्यान्नीहकृष्वहाम्।

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

जाता है। परन्तु कभी-कभी अणिजन्त क्रियाओं का कर्त्ता प्रेरणार्थक अवस्था में कर्म के बदले करण होता है और उसमें द्वितीया विभक्ति के स्थान पर तृतीया विभक्ति का प्रयोग होता है, जैसे–'भृत्य: ओदनं पचति' का णिजन्त रूप होगा–'स्वामी भृत्येन ओदनं पाचयति'। कुछ क्रियाओं के साथ अणिजन्त दशा का कर्त्ता णिजन्त दशा में आकर विकल्प से द्वितीया तथा तृतीया विभक्ति में प्रयुक्त होता है। जैसे–'भृत्य: कटं करोति' इस अणिजन्तरूप में कर्त्ता–'भृत्य:' णिजन्त दशा–'स्वामी भृत्येन भृत्यं वा कटं कारयति' में आकर विकल्प में भृत्येन' 'भृत्यं' तृतीया और द्वितीय विभक्ति में प्रयुक्त हुआ है। अणिजन्त दशा का कर्ता जिन धातुओं के णिजन्त रूप में कर्म बन जाता है, वे हैं–'खाना', 'जाना', 'समझना' पढ़ना आदि अर्थ रखने वाली धातुएँ तथा अकर्मक धातुएँ। यह बात नीचे लिखे उदाहरणों से सरलता से समझी जा सकती है, जैसे–

अणिजन्त रूप	**णिजन्त रूप**
देवदत्त: ग्रामं गच्छति।	यज्ञदत्त: देवदत्तं ग्रामं गमयति।
देवदत्त: शास्त्रं जानाति।	यज्ञदत्त: देवदत्तं शास्त्रं ज्ञापयति।
देवदत्त: ओदनं भुङ्क्ते।	यज्ञदत्त: देवदत्तं ओदनं भोजयति।
देवदत्त: शास्त्रं पठति।	यज्ञदत्त: देवदत्तं शास्त्रं पाठयति।
देवदत्त: शय्यायां शेते।	यज्ञदत्त: देवदत्तं शय्यायां शाययति।

6.5.3 तृतीया विभक्ति

जैसे पहले उल्लेख किया जा चुका है कि जब क्रिया कर्मवाच्य या भाववाच्य में होती है तब तृतीया विभक्ति कर्त्ता को सूचित करने के लिए प्रयुक्त होती है, जैसे–देवदत्तेन ग्रन्थ: पठयते (कर्मवाच्य), देवदत्तेन सुप्यते (भाववाच्य)। तृतीया विभक्ति कर्मवाच्य भाववाच्य में कर्त्ता को सूचित करती है और अन्यत्र करण कारक को भी सूचित करती है जैसे–'कुठारेण काष्ठं-छिनति' में 'कुठारेण' में तृतीया विभक्ति करण (साधन) की सूचक है। 'रामेण बाणेन हतो बालि:' इस प्रसिद्ध उदाहरण में जो कर्मवाच्य में है, 'रामेण' में तृतीया विभक्ति कर्त्ता को तथा 'बाणेन' में करण को सूचित करती है। इस प्रकार कारक विभक्ति के रूप में तृतीया कर्त्ता और करण दोनों की सूचक है।

इसके अतिरिक्त तृतीया विभक्ति निम्न अर्थों में भी प्रयुक्त होती है–

(1) शपथ बोधक शब्दों के अर्थ से, जिनके नाम से शपथ ली जाती है, जैसे–'स्वपुत्रेण शपामि' (मैं अपने पुत्र की शपथ खाकर कहता हूँ)।

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

(2) किसी स्थान विशेष तक जाने के लिए मार्ग या दिशा का अनुसरण किया जाता है, उस दिशाबोधक शब्द में जैसे–'केन मार्गेण स ग्रामं गतः' (वह किस रास्ते से गाँव गया)।

(3) उत्कर्षार्थक तथ सदृश्यार्थक धातुओं के योग में जिन गुणों की उत्कृष्टता होती है अथवा जिन बातों में सादृश्य पाया जाता है उनमें तृतीया होती है। जैसे–

'ऐश्वर्येण देवान् अतिशेते' वह ऐश्वर्य में देवताओं से उत्कृष्ट है या 'स्वरेण रामभद्रम् अनुसरति' (आवाज से वह रामभद्र से मिलता है)।

(4) अभीष्ट फल की प्राप्ति या अभीष्ट कार्य की सिद्धि का बोध कराने में कालवाची या मार्गवाची शब्दों में तृतीया विभक्ति लगती है। जैसे–

'मया त्रिभिर्मासैः न्यायशास्त्रं पठितम' (मेरे द्वारा तीन महीने में न्यायशास्त्र पढ़ा गया), 'क्रोशेन गीतापाठः समाप्त' (एक कोस में गीता का पाठ समाप्त हुआ)। यदि कुछ समय या दूरी लगातार कोई क्रिया की जाए परन्तु कार्य पूर्ण न हो तो वहाँ द्वितीया लगती है। कार्य पूर्ण हो जाये तो तृतीया लगती है। अध्ययन का प्रयोजन पूर्ण नहीं हुआ है, तो 'मासम् अधीते' कहा जायेगा किन्तु अध्ययन के पूर्ण हो जाने की स्थिति में 'मासेन अधीते' प्रयोग होगा।[1]

(5) कारण या हेतु को सूचित करने के लिए भी तृतीया विभक्ति का प्रयोग होता है; उदाहरण के लिए–'तव प्रीत्या अनुगृहीतोऽस्मि' (तुम्हारे स्नेह से मैं अनुगृहीत हुआ), 'भवतां दर्शनेन कृतार्थः' (तुम्हारे दर्शनों से कृतार्थ हुआ) 'विद्यया यशः'[2] (विद्या से यश प्राप्त होता है)।

(6) 'बस' या 'काफी' अर्थ देने वाले निषेध के सूचक 'अलम्' और 'कृतम्' अव्ययों के योग में–'अलम् अति-विस्तरेण' (विस्तार की आवश्यकता नहीं), 'कृतं पूजाविडम्बनया'।

(7) 'साथ अर्थ के सूचक 'सह, साकं, सार्धं, समम्' आदि शब्दों के योग में–'पिता पुत्रेण सह साकं समं वा आगतः' (पिता पुत्र के साथ आया), 'देवदत्तेन सार्धं गच्छ' (देवदत्त के साथ जाओ)।[3]

(8) 'लाभ' अथवा 'आवश्यकता' वाचक 'किम्, कार्यम्, अर्थः प्रयोजनम्', शब्दों के योग में भी तृतीया प्रयुक्त होती है जैसे–

'कृष्णस्य ध्येन धनेन किम्' (कृष्ण को धन की क्या आवश्यकता है?) 'कोऽर्थः मुर्खेण पुत्रेण' (मूर्ख पुत्र से क्या लाभ?) इत्यादि।

---

[1] अपवर्ग तृतीया।
[2] हेतौ
[3] सहयुक्तेऽप्रधाने।

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

6.5.4 चतुर्थी विभक्ति

जिसे कोई वस्तु दी जाती है उसे सम्प्रदान कहते हैं और सम्प्रदान में चतुर्थी विभक्ति लगती है। जैसे–'गुरवे दक्षिणां ददाति' में गुरु को दक्षिणा दी जाती है। अतः गुरु में चतुर्थी विभक्ति है। इसी प्रकार 'स्वदेशाय प्राणान् ददाति' (अपने देश के लिए प्राण देता है) में 'स्वदेशाय' में चतुर्थी विभक्ति है। इसके अतिरिक्त निम्न शब्दों के योग में भी चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग होता है–

(1) रुच् धातु तथा रुच् के समान अर्थ रखने वाली धातुओं के योग में 'प्रसन्न होने वाले', अर्थ में चतुर्थी विभक्ति लगती है।[1] जैसे–

'मह्यम् अध्ययनं रोचते', 'देवदत्ताय मोदकं रोचते' (मुझे अध्ययन पसन्द है। देवदत्त को लड्डू पसन्द है)।

(2) णिजन्त धृ (उधार लेना, कर्ज चुकाना) के योग में जिस व्यक्ति को कर्ज चुकाना हो उसमें चतुर्थी विभक्ति लगती है।[2] जैसे–

'देवदत्तः यज्ञदत्ताय शतं मुद्रा धारयति' (देवदत्त को यज्ञदत्त की सौ मुद्राएँ चुकानी हैं)।

(3) स्पृह् (चाहना) धातु के योग में जिसे चाहा जाए, उसमें[3]–

'बुभुक्षितः ओदनाय स्पृहयति', 'पुत्रभ्यः स्पृहां कुर्वन्ति' (भूखे भात चाहते हैं। ये सब पुत्र चाहते हैं)। कभी-कभी इसी अर्थ में सप्तमी विभक्ति का भी प्रयोग होता है–

'स्पृहावती वस्तुषु केषु मागधी' (मागधी रानी अथवा स्त्री को किन वस्तुओं की चाह है?)

(4) क्रूध्, द्रुह, ईर्ष्य तथा असूय् धातुओं तथा इन धातुओं के समान अर्थ रखने वाली धातुओं के योग में जिसके ऊपर क्रोध, द्रोह, ईर्ष्या आदि की जाती है उसमें चतुर्थी विभक्ति लगती है।[4] जैसे–

'यज्ञदत्तः देवदत्ताय क्रूष्यति, द्रुह्यति, ईर्ष्यति, असूयति वा' (यज्ञदत्त देवदत्त पर क्रोध करता है, द्रोह करता है अथवा ईर्ष्या करता है)।

(5) (1) जिस प्रयोजन के लिए कोई कार्य किया जाए, या (2) जिसको बनाने के लिए कोई दूसरी वस्तु उपादान कारक के रूप में प्रयुक्त होती है तब प्रयोजन और बनी हुई वस्तु में चतुर्थी विभक्ति लगती है।[5] जैसे–

---

1 रुच्यर्थानां प्रीयमाणः।
2 धारेरुत्तमर्णः।
3 स्पृहेरीप्सितः।
4 क्रधद्रहोरुपसृष्टयोः कर्म।
5 तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या।

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

(1) 'देशरक्षाये प्राणत्यागः' (देश रक्षा के लिए प्राणत्याग), 'विद्या यशसे' (यश के लिए विद्या)

(2) 'कुण्डलाय सुवर्णम्' (कुण्डल के लिए सोना), 'यूपाय दारुः' (खम्भे के लिए लकड़ी)।

(6) किसी धातु में तुमुन् प्रत्यय जोड़ने से अर्थ निकलता है (गन्तुम्–जाने के लिए) उसको प्रकट करने के लिए उसी धातु से बनी हुई भाववाचक संज्ञा का प्रयोग करने पर उसमें चतुर्थी विभक्ति प्रयुक्त होती है[1]–

पठनाय याति-पठितुं याति। (पढ़ने के लिए जाता है)।

बनाय गां मुमोच। शयितुम् इच्छति (सोने के लिए इच्छा करता है।)

(7) नमः, स्वस्ति, स्वहा आदि शब्द तथा विध्यर्थक 'अलम्' (समर्थ) शब्दों के योग में[2] 'देवाय नमः', 'प्रजाभ्यः स्वस्ति', 'इन्द्राय स्वहा', पितरेभ्यः स्वधा, 'अलं मल्लो मल्लाय' (यह पहलवान उस पहलवान के लिए समर्थ अर्थात् बराबर है।)

(8) जब 'घृणा' या अनादर का अर्थ प्रकट करना हो तो 'मन्' (सोचना) धातु के अप्राणी (जो प्राणी नहीं है) कर्म में चतुर्थी या द्वितीया विभक्ति लगती है, जैसे–

'त्वा तृणं तृणायं वा मन्ये'।[3] (तुम्हें तिनके के बराबर समझता हूँ।)

6.5.5 पंचमी विभक्ति

पंचमी विभक्ति अपादान कारक को सूचित करती है। वह वस्तु जिससे कोई वस्तु पृथक् या अलग हो फिर भी वह स्थिति बनी रहे और विश्लेष में ध्रुव या अर्वाधभूत हो, उसे अपादान कहते हैं। 'वृक्षात् पत्रं पतति' वाक्य में 'वृक्षात्' अपादान है और इसीलिए यहाँ पंचमी विभक्ति लगी है। इसी प्रकार 'स प्रासादात् अपतत्' में प्रासादात् में अपादान के कारण पंचमी है। अपादान के अतिरिक्त पंचमी विभक्ति निम्नलिखित अर्थों में भी प्रयुक्त होती है–

(1) यह पहले बताया गया कि कारण या हेतु के अर्थ में तृतीया विभक्ति लगती है। परन्तु यदि कारण या हेतु अर्थ का बोधक शब्द गुण का वाचक (बताने वाला) हो और स्त्रीलिंग में न हो तब पंचमी विभक्ति लग सकती है।[4] जैसे–'शाठ्यात् शाठ्येन वा निन्दितः' (शठता के कारण निन्दित हुआ), 'पाण्डित्येन पाण्डित्याद् वा प्रसिद्धः)' (पाण्डित्य के कारण प्रसिद्ध हुआ)।

---

1 तुमर्थाच्च भा ववचनात्।

2 नमः स्वस्तिस्वहास्वधात्मव षह्योगाच्च।

3 मन्यकर्मण्यनादरे विभायाऽप्राणिषु।

4 विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्।

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

यदि हेतु अर्थ का बोधक शब्द स्त्रीलिंग में हो या वह गुण का वाचक न हो, केवल पदार्थ बोधक ही हो तब केवल तृतीया विभक्ति का ही प्रयोग होगा जैसे–'भवत्या प्रसन्नोऽस्मि (मैं आपसे प्रसन्न हूँ), अथवा 'धनेन तस्य गौरवम्' (धन से उसका गौरव है)।

(2) युक्ति उपस्थापित करते (देते) हुए हेतु में पंचमी विभक्ति लगती है–

'पर्वतो वह्नि धूमात्' (धुएँ के कारण प्रतीत होता है कि पर्वत पर अग्नि है)।

धूम वह्नि की स्थापना में हेतु है अर्थात् धुआँ है अत: वहाँ अग्नि होगी ऐसी स्थापना का कारण है अत: इसमें पंचमी है।

(3) 'तरप्' और 'ईयसुन्' प्रत्ययान्त शब्दों और तुलनार्थक शब्दों के योग में, उस शब्द में पंचमी लगती है जिससे तुलना की जाती है–

'देवदत्तात् यज्ञदत: प्रियतर:', 'मोहादभूत् कष्टतर: प्रबोध:'।

(4) जुगुप्सा (घृणा), विराम (बन्द हो जाना, हटना आदि), प्रमाद (धूल) अर्थ के बोधक शब्दों के योग में जिससे घृणा की जाए, जिससे हटा जाये, जिस कार्य के करने में प्रमाद किया जाए, उसमें पंचमी विभक्ति लगती है[1]–

'अधर्मात् जुगुप्सते', 'पापाद् विरमति', 'स्वकर्त्तव्यात् प्रमत:'।

(5) जिस गुरु या अध्यापक से कुछ सीखा जाता है उस गुरु या अध्यापक वाचक शब्द में पंचमी लगती है[2]–'अध्यापकात् मया व्याकरणं पठितम्' (अध्यापक से मैंने व्याकरण पढ़ा), 'द्रौणाचार्यात् पाण्डवै: शस्त्रविद्या शिक्षिता' (द्रोणाचार्य से पाण्डवों द्वारा शस्त्र विद्या सीखी गई)।

(6) उस कारण में जिससे कुछ उत्पन्न होता है[3]–

'कामात् क्रोधोऽभिजायते' (काम से क्रोध उत्पन्न होता है), 'आकाशाद् वायुरजायत' (आकाश से वायु उत्पन्न हुई)। कभी-कभी सप्तमी का भी प्रयोग होता है। जैसे–

मनोरमायां तनयो जात: (मनोरमा के पुत्र उत्पन्न हुआ)।

(7) उस वस्तु या पदार्थ बोधक शब्द में जिससे भय लगता हो या जिससे किसी की रक्षा (बचाव) करनी हो[4]–'राक्षसाद् भीत', 'वृकाद् अजा त्रातुम् इच्छति' (भेड़िये से बकरी बचना चाहती है)।

---

[1] जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम्। (वार्तिक)
[2] आख्यातोपयोगे।
[3] जनिकर्तु: प्रकृति। भुव: प्रभव:।
[4] भीत्रार्थानां भयहेतु:।

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

(8) वारणार्थक ('हटाने' अर्थ वाली) धातुओं के योग में जिससे हटाना हो उसके बोधक शब्द में[1] जैसे–'यवेभ्य: गां वारयति' (जौ के खेत से गौ को हटाता है)।

(9) परा उपसर्ग पूर्वक जि धातु के योग में, जिससे कोई दूर हटता है या जिसे सहन नहीं कर सकता[2] जैसे–'अध्ययनात् पराजयते' (अध्ययन से दूर भागता है, अध्ययन उसके लिए असह्य या कष्टप्रद है)।

(10) आरात् (दूर या समीप) इतर, ऋते, तथा दिग्वाचक पूर्व, दक्षिण आदि शब्द, प्रभृति, प्रारम्भ, अनन्तरम् इत्यादि के योग में भी पंचमी विभक्ति लगती है।[3] जैसे–

ग्रामाद् आरात्, देवदत्तात् इतर:, ऋते ज्ञानात् न मुक्ति:, पूर्वा ग्रामात्, बाल्यात् प्रभृति, तस्य दर्शनात् आरभ्य, अध्ययनात् अनन्तरम्। परन्तु पृथक्, विना, नाना आदि शब्दों के योग में पंचमी, तृतीया और द्वितीया तीनों विभक्तियाँ लगती हैं[4]। जैसे–

रामात् पृथक्, रामेण पृथक्, राम पृथक्। रामात् विना, रामेण विना, रामं विना।

(11) 'लेकर' एवं 'तक' अर्थ के बोधक 'आ' अव्यय के योग में भी पंचमी विभक्ति लगती है[5]–

आ हिमालयात् भारतस्य विस्तार: (हिमालय से लेकर या हिमालय तक, भारत का विस्तार है)।

6.5.6 षष्ठी विभक्ति

जैसा पहले बताया गया है कि षष्ठी विभक्ति कृदन्त पदों के योग में (पठनम्, गमनम् आदि) कर्ता एवं कर्म कारकों को सूचित करती है अत: वहाँ यह कारक विभक्ति होती है। जैसे 'देवदत्तस्य पठनम्' और 'पुस्तकस्य पठनम्' में षष्ठी विभक्ति क्रमश: कर्त्ता तथा कर्म को सूचित करती है। इन स्थानों को छोड़कर अन्यत्र षष्ठी विभक्ति स्वामी तथा भृत्य, जन्म तथा जनक, कार्य तथा कारण आदि सम्बन्धों की ही सूचक होती है कारक सम्बन्ध की नहीं। वस्तुत: षष्ठी विभक्ति का प्रयोग प्रधान रूप से, जो बात और विभक्तियों से नहीं बतलाई जा सकती, उसे बतलाने के लिए किया जाता है। जैसे–

'देवदत्तस्य गृहम्' में षष्ठी स्वस्वामीभाव की सूचक है। 'वृक्षस्य पत्राणी' में अवयव और अवयवी सम्बन्धी सूचक है। इसके अतिरिक्त षष्ठी विभक्ति के प्रमुख प्रयोग निम्नलिखित हैं–

(1) अतिशय के सूचक तमप् या इष्ठन् प्रत्ययान्त विशेषणों के योग में षष्ठी या सप्तमी दोनों विभक्तियाँ प्रयुक्त होती हैं–'छात्राणां छात्रेषु वा देवदत्त: पटुतम:' (छात्रों में देवदत्त सबसे चतुर है)। 'प्राणिनां प्राणिषु वा मनुष्य: श्रेष्ठ:' (प्राणियों में मनुष्य श्रेष्ठ है)।

---

1 वाराणार्थानामीप्सित:।

2 पराजेरसोढ:।

3 अन्यारादादितरर्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते।

4 पृथग्विनानानाधिस्तृतीयप्न्यतरस्याम्।

5 आङ्मर्यादावचने।

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

परन्तु जैसा पहले उल्लेख किया जा चुका है, विशेषण की उत्तर अवस्था के सूचक 'तरप्' तथा 'ईयसुन्' के योग में जिससे अतिशय बताना हो उसमें पंचमी विभक्ति लगती है। जैसे–

'देवदत्तात् यज्ञदत्त: प्रियतर:' (देवदत्त से यज्ञदत्त अधिक प्रिय है)।

(2) जब किसी कार्य के घटित होने के समय से किसी निश्चित अवधि का व्यतीत होना दिखाया जाता है या बताया जाता है तो कार्य या घटना को व्यक्त करने वाले शब्दों में षष्ठी विभक्ति लगती है। जैसे–

'देवदत्तस्य अस्मात् नगरात् गतस्य तृतीयो मास:' (इस नगर से गए हुए देवदत्त को तीसरा महीना है) 'तस्य महाविद्यालये पठत: त्रीणि वर्षाणि गतानि' (महाविद्यालय में पढ़ते हुए देवदत्त को तीसरा महीना है), 'अद्य दशमो मास: तातस्य उपरतस्य' (पिता को गुजरे आज दस महीने हो गए हैं)।

(3) दक्षिणत: उत्तरत: आदि तथा दिशा सूचक शब्दों यथा, उपरि, अध: पुर:, पश्चात् आदि के योग में षष्ठी विभक्ति लगती है। जैसे–

'ग्रामस्य दक्षिणत: उत्तरतो वा', 'घनानाम् उपरि', 'वृक्षस्याध:', 'पितु: पुर:', 'अध्ययनस्य पश्चात्' आदि।

(4) जब 'हेतु' शब्द का प्रयोग होता है तो जो शब्द कारण या प्रयोजन रहता है वह और हेतु शब्द दोनों षष्ठी विभक्ति में रखे जाते हैं[1]। जैसे–

'अध्ययनस्य हेतो: वसति'। (अध्ययन के कारण रहता है)।

(5) 'जानने वाला' या 'परिचित' या 'सावधान'–इन अर्थों का बोध कराने वाले विशेषणों तथा इनके उलट अर्थों को बोध कराने वाले विशेषणों के योग में इनके कर्म में षष्ठी विभक्ति होती है, जैसे–

'अभिज्ञोऽस्मि तस्य वृत्तान्तस्य' (मैं उस वृत्तान्त को जानता हूँ), 'अनभिज्ञोऽसि त्वं तस्य पाण्डित्यस्य' (तुम उसकी विद्वत्ता को नहीं जानते)।

(6) द्वि (दोबारा), त्रि (तीन बार), अष्टकृत्व: (आठ बार) आदि क्रियाविशेषण शब्दों के प्रयोग में षष्ठी लगती है[2]। जैसे–

'स: दिवसस्य त्रि भुङ्क्ते' (वह दिन में तीन बार खाता है), 'स मासस्य अष्टकृत्व: अत्र आगच्छति' (वह महीने में आठ बार यहाँ आता है)।

(7) 'कृते', 'समक्षम्' शब्दों के योग में षष्ठी विभक्ति लगती है। जैसे–

'तब कृतेऽहं पीडितोऽस्मि' (तुम्हारे लिए मैं पीड़ित हूँ), 'मम समक्षमेव स पलायित:' (मेरे सामने ही वह भाग गया)।

---

1 षष्ठी हेतुप्रयोगे।

2 कृत्वोऽर्थप्रयोगे कालेऽधिकरणे।

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

(8) 'बराबर', 'समान' या 'की तरह' अर्थ के वाचक तुल्य, सदृश, 'सम' इत्यादि शब्दों के योग में उसी शब्द में विकल्प से षष्ठी या तृतीया विभक्ति लगती है जिससे किसी की तुलना की जाती है[1]। जैसे–

'स जनः रामस्य रामेण वा तुल्यः, सदृशः, समो वा वर्तते' (वह मनुष्य राम के समान है)।

6.5.7 सप्तमी विभक्ति

जैसा पहले बताया गया है। सप्तमी विभक्ति अधिकरण कारक ही सूचक है। जिस स्थान या आधार पर क्रिया होती हो उसे अधिकरण कहते हैं। जैसे–'रथे गच्छति' में 'रथ', 'गमन' क्रिया का आधार है। अतः यहाँ अधिकरण की सूचक 'सप्तमी' कारक विभक्ति है। इसी प्रकार किसी क्रिया का काल भी सप्तमी विभक्ति से सूचित किया जाता है। जैसे–

'अस्मिन् मासेऽहं गमिष्यामि' (मैं इस महीने जाऊँगा)।

इसके अतिरिक्त सप्तमी विभक्ति का निम्न स्थानों पर भी प्रयोग होता है–

(1) 'पर', 'प्रति' और 'विषय में', 'बारे में' का अर्थ बोध कराने के लिए या जब किसी के बारे में कुछ कहना हो तो सप्तमी विभक्ति प्रयोग में लाई जाती है। जैसे–

'मयि दयां कुरु' (मेरे पर दया करो), 'अस्मिन् विषये' (इसके बारे में), 'स स्वकार्येषु विरक्तोऽभवत्'।

(2) शब्दकोशों में 'यह शब्द इस अर्थ में प्रयुक्त होता है' इस बात को दिखाने के लिए सप्तमी विभक्ति का प्रयोग होता है। जैसे–

'बाणी बलिसुते शरे' (बाण शब्द बलि का पुत्र तथा तीर के अर्थ में प्रयुक्त होता है)।

(3) कभी-कभी (बहुत कम) या प्राचीन साहित्य में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग जस प्रयोजन या अभिप्राय से कोई कार्य किया जाता है उसे बतलाने के लिए किया गया है, जैसे–

'चर्मणि द्वीपिनं हन्ति' (मनुष्य बाध को चमड़े के अर्थात् चमड़े के प्रयोजन के लिए मारता है)। इसी प्रकार 'दन्तयोः (दाँत के प्रयोजन से) हन्ति कुंजरम्' (दाँत के लिए हाथी को मारता है)।

(4) 'स्निह्, अभिलष्, अनुरञ्ज्' इत्यादि 'स्नेह', 'आसक्ति' तथा सम्मान वाचक शब्द के साथ जिसके लिए स्नेह, आसक्ति अथवा सम्मान प्रदर्शित किया जाता है वह सप्तमी विभक्ति में रखा जाता है, जैसे–

[1] तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम्।

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

'गुरुः स्वशिष्ये स्निह्यति' (गुरु शिष्य से स्नेह करता है), 'नास्ति मम वैभवेऽभिलाषः' (ऐश्वर्य में मेरी अभिलाषा नहीं है), 'अस्मिन् देशे प्रजा राजनि अनुरक्ताः' (इस देश में प्रजा राजा से प्रेम करती है)।

(5) 'योग्यता' अथवा 'उपयुक्तता' इत्यादि अर्थों का बोध कराने वाले शब्दों के योग में उस व्यक्ति का वाचक शब्द सप्तमी में रखा जाता है जिसके विषय में योग्यता अथवा उपयुक्तता प्रकट की जाती है। जैसे–

'सृष्टिकर्तृत्वादमी गुणा ईश्वरे उपपद्यन्ते' (सृष्टि का कर्ता होने के कारण ईश्वर में ये गुण-उपयुक्त हैं), 'त्वयि ईदृशी कठोरता न युज्यते' (तुम्हें ऐसी कठोरता उपयुक्त नहीं है), 'युक्तरूपमिदं त्वयि' (आप में यह उपयुक्त ही है)।

(6) 'फेंकना', 'छोड़ना' अर्थ रखने वाली 'क्षिद्', 'मुच्', 'अस्' आदि धातुओं के योग में वह वस्तु जिसकी और कुछ फेंका जाता है सप्तमी विभक्ति में रखी जाती है, जैसे–

'स्वशत्रौ तेन शराः मुक्ताः क्षिप्ता वा' (अपने शत्रु पर बाण फेंके), 'व्याघ्रे कुन्तम् अस्यति' (वह बाघ पर भाला फेंकता है)।

(7) 'लगा हुआ', 'जुटा हुआ' आदि अर्थ के बोधक 'व्यापृत', 'आसक्त', 'व्यग्र', 'तत्पर' आदि शब्दों तथा 'चतुर', 'होशियार' आदि अर्थ के वाचक 'कुशल', 'निपुण', 'पटु', 'पण्डित' आदि शब्दों के योग में भी सप्तमी विभक्ति लगती है। जैसे–

'स देशसेवायां व्यापृतः, तत्परो वा' (वह देशसेवा में लगा हुआ है), 'द्युतकर्मणि आसक्तः' (जुए में आसक्त), 'अध्ययने व्यग्रः तत्परो वा' (अध्ययन में तत्पर), 'शास्त्रेषु निपुणः प्रवीणो वा' (शास्त्रों में चतुर)।

'भावे वाक्यांश प्रयोग' या 'भावे सप्तमी'

'भावे प्रयोग' का अर्थ है वे शब्द जो मुख्य वाक्य का भाग नहीं होते फिर भी वे उससे पृथक् वाक्य नहीं होते और वे मुख्य वाक्य में बताई गई क्रिया के होने के समय को बताते हैं, जैसे–'सूर्य अस्तंगते सति कृषकाः गृहं समायाताः'।

यहाँ 'सूर्य अस्तंगते सति' (जब सूर्य अस्त हो गया) 'भावे प्रयोग' है क्योंकि यह 'कृषकाः गृहं समायाता' (किसान घर को आ गए) इस मुख्य वाक्य का भाग नहीं है और उससे पृथक् वाक्य के रूप में भी प्रयुक्त नहीं होता और यह मुख्य वाक्य में प्रयुक्त किया (कृषकों का घर आना) के होने के समय को (जब सूर्य अस्त हो गया) बताता है। शब्दों का इस प्रकार का प्रयोग संस्कृत में 'भावे प्रयोग या भावे सप्तमी' कहलाता है। 'भावे' का अर्थ है–'क्रिया' या 'होना' और उपर्युक्त उदाहरण 'सूर्य अस्तंगते' में प्रयुक्त सप्तमी विभक्ति

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

भाव अर्थात् गमन क्रिया की सूचक है और मुख्य वाक्य की क्रिया 'समायाता:' के होने के समय को बताती है। यहाँ 'समय' को भूतकालिक (भूतकाल को बताने वाले) कृदन्त 'क्रत' (अस्तगत) प्रत्यय के प्रयोग से प्रकट किया गया है और उसके समानाधिकरण शब्द 'सूर्य' के साथ सप्तमी विभक्ति में रखा गया है–'सूर्य अस्तंगते'। इस प्रकार भावे प्रयोग की विधि यह है कि जब मुख्य वाक्य में आई क्रिया के होने के समय को सूचित करना हो तो भावे प्रयोग में आने वाली क्रिया को 'शतृ', 'शानच्', 'क्त', 'क्तवतु' आदि कृत् प्रत्ययों को जोड़कर सप्तमी विभक्ति में रखा जाता है। उसके समानाधिकरण पदों को भी सप्तमी विभक्ति में रखा जाता है। जैसे 'सूर्य अस्तंगते' में प्रयुक्त 'गम्' धातु से कृत् प्रत्यय 'क्त' को जोड़कर उसे सप्तमी विभक्ति में रखा गया है। उसके समानाधिकरण शब्द सूर्य को भी सप्तमी विभक्ति में रखा गया है। संस्कृत में सामान्य भावे प्रयोग 'भावे सप्तमी' है। इस प्रसंग में यह बात ध्यान देने योग्य है कि भावे प्रयोग में आने वाली कृत् प्रत्ययान्त क्रिया का कर्त्ता तथा मुख्य वाक्य में आने वाली क्रिया का कर्त्ता भिन्न-भिन्न होने पर ही 'भावे प्रयोग' होता है। जैसे उपर्युक्त उदाहरण में 'अस्तंगते' का कर्त्ता सूर्य तथा मुख्य वाक्य की क्रिया 'समायाता:' का कर्त्ता कृषक दोनों भिन्न-भिन्न हैं। अत: यहाँ भावे प्रयोग ठीक है। परन्तु 'लंका को ले लेने पर राम अयोध्या लौटे' वाक्य का संस्कृत में भावे प्रयोग नहीं हो सकता क्योंकि 'ले लेना' तथा 'लौटना' क्रियाओं का कर्त्ता एक ही 'राम' हैं। 'बन्दरों के लंका लेने पर राम अयोध्या लौटे' का अनुवाद संस्कृत में भावे प्रयोग से हो सकता है क्योंकि लेना क्रिया का कर्त्ता बन्दर है और लौटना क्रिया का कर्त्ता राम है। इस प्रकार का प्रयोग होगा–

'कपिभि: गृहीतायां लंकायां रामोऽयोध्यां निववृते'।

जब मुख्य क्रिया के होने के समय को सूचित करने वाली 'भाव वाक्यांश' की क्रिया से 'अनादार' का अर्थ बताना हो तो उसमें विकल्प से सप्तमी या षष्ठी विभक्ति लगती है और ऐसा प्रयोग 'भावे षष्ठी' कहलाता है। जैसे 'पुत्राणां रुदतां स प्राव्राजीत् (अपने रोते हुए पुत्रों की भी उपेक्षा करके वह संन्यासी बन गया)। यहाँ पुत्राणां रुदताम्' भावे प्रयोग है जिसमें षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया गया है उससे अनादर या उपेक्षा का अर्थ प्रकट होता है कि रोते हुए पुत्रों की भी परवाह न करके संन्यासी हो गया। इसी अर्थ को प्रकट करने के लिए भावे सप्तमी का भी प्रयोग हो सकता है–'पुत्रेषु रुदत्सु स प्राव्राजीत्'। अनादर का अर्थ सूचित न करना हो तो केवल सप्तमी का ही प्रयोग होता है।

वस्तुत: 'भावे प्रयोग:' के विषय में सबसे बड़ी कठिनाई है उसका शुद्ध प्रयोग। इस विषय में नीचे लिखी बातें ध्यान देने योग्य हैं–

(1) 'भावे प्रयोग' में 'क्रिया' को क्त, क्तवतु या शतृ, शानच्, कृत् प्रत्ययों से सूचित किया जाता है।

(2) 'भाव वाक्यांश' में क्रिया का कर्त्ता या कर्म अपने-अपने समानाधिकरण शब्दों के साथ सप्तमी विभक्ति में रखा जाता है और कृत् प्रत्ययान्त क्रिया सूचक पद भी विशेषण का काम करता है', 'भाव

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

वाक्यांश' को कर्त्ता और कर्म के अनुसार ही सप्तमी विभक्ति में रखा जाता है और उसके वचन और लिंग भी विशेष्य कर्तृपद या कर्मपद के वचन और लिंग के अनुसार होते हैं।

(3) 'भाव वाक्यांश' में इन्हें छोड़कर प्रयुक्त होने वाले शब्दों में कोई परिवर्तन नहीं होता और उनका अपना कारक या विभक्ति रहती है। वे सप्तमी विभक्ति में नहीं रखे जाते। ये बातें निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट हो जाएंगी–

'स्वगृहाद् अध्ययनार्थ देवदत्ते वाराणसीं गते सति, यज्ञदत्तः अत्र आगतः' अर्थात् 'जब देवदत्त अध्ययन के लिए अपने घर से बनारस गया, तब यज्ञदत्त यहाँ आया।'

(1) यहाँ भाव वाक्यांश में पढ़ने के लिए जाने की क्रिया जो यज्ञदत्त के आने के समय को सूचित करती है 'गत' में क्त प्रत्यय से बताई गई है अर्थात् यह बात (क्रिया) कि यज्ञदत्त कब आया, भाव वाक्यांश में प्रयुक्त 'गत' में क्त प्रत्यय से बताई गई है।

(2) भाव वाक्यांश की 'जाना' (गत) क्रिया का कर्ता देवदत्त और क्त प्रत्ययान्त गम् धातु दोनों (देवदत्ते गते) सप्तमी विभक्ति में रखे गए हैं और 'गते' का लिंग और वचन वहीं है जो विशेष्य कर्त्ता (देवदत्त) का।

(3) परन्तु इन्हें छोड़कर 'भाव वाक्यांश' में प्रयुक्त 'गृहात्', 'अध्ययनार्थ', 'वाराणसीम्' पद अपने-अपने कारकों में प्रयुक्त हैं और उन्हें सप्तमी विभक्ति में नहीं रखा गया है। केवल क्त प्रत्ययान्त क्रिया सूचक पद और उसके समानाधिकरण ही सप्तमी विभक्ति में रखे गए हैं। इस सन्दर्भ में विद्यार्थियों से यह भूल हो जाती है कि वे 'भाव वाक्यांश' में प्रयुक्त सभी पदों को सप्तमी विभक्ति में रख देते हैं जो बिल्कुल गलत है। अतः 'भाव वाक्यांश' के प्रयोग को अच्छी तरह समझना चाहिए और उसका खूब अभ्यास करना चाहिए। एक और उदाहरण दिया जाता है–

'देवदत्तेन कृष्णप्रणीतायां गीतायामुच्चस्वरेण पठितायां सत्यां यज्ञदत्तः अत्र आगतः'।

यहाँ 'पठित' के लिंग और वचन का विशेष्य पद 'गीता' से साम्य है, जो 'पठित' का कर्म है। गीता का विशेषण 'कृष्णप्रणीता' भी 'पठित' और 'गीता' के समान सप्तमी विभक्ति में रखा गया है और तीनों का लिंग, वचन, विभक्ति में साम्य है। परन्तु 'उच्चस्वरेण' इनका समानाधिकरण नहीं है। अतः उसमें उसकी अपनी कारक विभक्ति है। इस प्रकार 'भाव वाक्यांश' में प्रयुक्त कृत्प्रत्ययान्त क्रियापद के कर्ता या कर्म के समानाधिकरण सब पद सप्तमी विभक्ति में रखे जाते हैं और उनका कृत्प्रत्ययान्त क्रियापद तथा उसे कर्त्ता और कर्म की विभक्ति, लिंग और वचन से साम्य होता है। इन्हें छोड़कर अन्य पदों का नहीं। उपर्युक्त उदाहरण में ही यदि हम पठित (कर्मवाच्य) के स्थान पर पठितवत् (कर्तृवाच्य) का प्रयोग करें तब उसी वाक्य का रूप इस प्रकार होगा–"देवदत्ते कृष्णप्रणीतां गीतां उच्चस्वरेण पठितवति सति"। यहाँ पठितवति का

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

समन्वय कर्ता देवदत्त से है, अतः दोनों में एक ही विभक्ति है और कृष्णप्रणीतां गीताम्' अपनी-अपनी कारक विभक्ति में रहते हैं। और भी, यदि वर्णनीय व्यक्ति पुरुष नहीं स्त्री है जैसे-'सीता' तब वाक्य का रूप इस प्रकार होगा-'सीतायां कृष्णप्रणीतां गीतां पठितवत्याम्'। विशेष्य पद 'सीतायां' के स्त्रीलिंग में होने पर क्तवत्वन्त 'पठितवत्याम्' भी स्त्रीलिंग में ही प्रयुक्त होगा।

अब हम 'भाव वाक्यांश' में शतृप्रत्यान्त क्रियापदों के उदाहरण लेते हैं। जैसे 'स्वक्षेत्रेषु कर्षणं समाप्य गृहम् आगच्छत्सु अस्मासु पक्षिण आकाशे विचरति मम'। यदि यहाँ 'अस्मासु' के स्थान पर स्त्रीलिंग शब्द का प्रयोग हो तो वाक्य होगा-'गृहम् आगच्छत्यां सत्यां सीतायाम्' और यदि स्त्रीलिंग बहुवचन हो तब वाक्य होगा-'गृहम् आगच्छन्तीषु सतीषु'। शानच् प्रत्ययान्त 'भाव वाक्यांश' का भी एक उदाहरण दिया जाता है-

"विद्यालये पारितोषिकं लभमानायां मयि सर्वे छात्राः प्रहृष्टाः।"

यदि यहाँ वक्ता पुरुष हो तब वाक्य होगा-'पारितोषिक लभमाने मयि'।

यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि 'भाव वाक्यांशों' में 'सत्' का जो अस् धातु का शतृप्रत्ययान्त रूप है, उसका प्रयोग आवश्यक नहीं है, यह तो स्पष्टता के उद्देश्य से किया जाता है, जैसे-

'लभमाने मयि सति', 'तस्यां आगतायां सत्याम्', 'आगच्छन्त्यां सत्याम्'।

चाहे 'सत्' का प्रयोग करें चाहे न करें, यह प्रयोग करने वाली इच्छा पर निर्भर है। परन्तु कृत्प्रत्ययान्त क्रिया के सूचक पदों के बाद 'सत्' को जोड़ने से स्पष्टता आ जाती है।

'भावे वाक्यांश' का शुद्ध प्रयोग समझने के लिए बार-बार इसका अभ्यास करना चाहिए।

6.6 सारांश

प्रस्तुत पाठ में आपने कारक अथवा विभक्त्यर्थ प्रकरण को भली-भाँति समझा। कारक एवं विभक्ति के लक्षण, अर्थ एवं तत्सम्बन्धी सूत्रों को उदाहरण सहित समझ चुके हैं। कारक एवं उनको प्रकट करने वाली सात विभक्तियों के परस्पर सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त किया। प्रधान कर्म एवं अकथित कर्म विषयक ज्ञान भी प्राप्त किया। साथ ही कारक विभक्ति एवं उपपद विभक्ति में परस्पर अन्तर को स्पष्ट किया गया है। कारक प्रकरण से सम्बद्ध पारिभाषिक पदों यथा प्रातिपदिक, उक्त, अनुक्त आदि को भी समझाया गया है। इसके अतिरिक्त अधिकरण अथवा आधार के तीनों भेदों-औपश्लेषिक, वैषयिक और अभिव्यापक को भी स्पष्ट किया गया है। इस प्रकार प्रस्तुत पाठ में आप कारक एवं विभक्ति से सम्बद्ध आवश्यक ज्ञान प्राप्त कर चुके हैं और वाक्यज्ञान की दृष्टि से अथवा भाषाविज्ञान की दृष्टि से कारक प्रकरण की महत्ता को भी सम्यक्तया समझ पाए हैं।

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

6.7 शब्दावली

कारक	–	**'क्रियान्वयित्वं कारकत्वम्'** क्रिया के साथ सीधा सम्बन्ध रखने वाला अथवा जो क्रिया का जनक है, उसे कारक कहते हैं।
प्रातिपदिकार्थ	–	किसी पद या शब्द के उच्चारण करने पर जिस अर्थ की नियतरूप से उपस्थिति होती है, उसे प्रातिपदिकार्थ कहते हैं।
अलिंग	–	कारक के प्रसंग में अलिंग का अर्थ है–अव्यय शब्द, अविकारी शब्द, जैसे–उच्चैः, नीचैः।
सम्बोधन	–	श्रोता या किसी अन्य का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करना।
ईप्सिततम्	–	'ईप्सित' का अर्थ है–इष्ट। ईप्सिततम् अर्थात् जिसे प्राप्त करना अत्यधिक इष्ट हो। यथा–पयसा ओदनं भुङ्क्ते (दूध से भात खाता है)। यहाँ खाने वाले कर्त्ता को दूध से अधिक चावल इष्ट है।
अनभिहित	–	अनभिहित का अर्थ है–अनुक्त यानि जिस कर्म-रूप अर्थ को कृत्, तिङ् आदि प्रत्ययों के द्वारा न कहा गया हो।
करण कारक	–	जो कारक क्रिया के सम्पादन में सर्वाधिक सहायक होता है, वह करण कारक होता है।
कारक विभक्ति	–	जब किसी वस्तु का साक्षात् क्रिया के साथ सम्बन्ध सूचित करने के लिए प्रथमा आदि सात विभक्तियों का प्रयोग किया जाता है, उसे कारक विभक्ति कहते हैं।
उपपद विभक्ति	–	किसी पद या शब्द को मानकर जो विभक्ति होती है, उसे उपपद विभक्ति कहते हैं। यथा–'श्री-गणेशाय नमः' में 'नमः' पद के कारण चतुर्थी विभक्ति प्रयुक्त हुई है।

6.8 सन्दर्भ-ग्रन्थ

- ***लघुसिद्धान्तकौमुदी***, चन्द्रकला नामक हिन्दी व्याख्या, डॉ. अर्कनाथ चौधरी, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर, 2001
- ***लघुसिद्धान्तकौमुदी***, धरानन्द शास्त्री, मूल एवं हिन्दी व्याख्या, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2003
- ***लघुसिद्धान्तकौमुदी*** (भैमी व्याख्या), भीमसेन शास्त्री, प्रथम भाग, भैमी प्रकाशन, दिल्ली, 1983।

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

- ***लघुसिद्धान्तकौमुदी***, प्रकाशिका नाम्नी हिन्दी व्याख्या, सत्यपाल सिंह, शिवालिक पब्लिकेशन, दिल्ली, 2014
- शर्मा 'ऋषि', डॉ. उमाशंकर–***संस्कृत साहित्य का इतिहास***, चौखम्भा भारती अकादमी, वाराणसी, 2014

6.9 अभ्यास प्रश्न

1. निम्न सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या कीजिए–

   (क) कर्तुरीप्सिततमं कर्म।

   (ख) साधकतमं करणम्।

   (ग) ध्रुवमपायेऽपादानम्।

2. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।

   (क) संस्कृत व्याकरण में कारक .... होते हैं।

   (ख) प्रातिपदिकार्थ से तात्पर्य किसी पद के अर्थ की .... से है।

   (ग) अनुक्त कर्म में .... विभक्ति होती है।

   (घ) 'स्वस्ति' पद के योग में .... विभक्ति होती है।

   (ङ) 'कटे आस्ते' में .... आधार प्रयुक्त है।

3. 'प्रातिपदिकार्थलिंगपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा' सूत्र में उपस्थित प्रत्येक पद की सोदाहरण विस्तृत व्याख्या कीजिए।
4. कारक विभक्ति एवं उपपद विभक्ति में परस्पर अन्तर को उदाहरण सहित स्पष्ट करें।
5. अधिकरण किसे कहते हैं? सभी भेदों को उदाहरण देकर समझाइए।

© *Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi*

पाठ–7 इकाई-IV

लघुसिद्धान्तकौमुदी

समास प्रकरण

संरचना

7.1 उद्देश्य
7.2 प्रस्तावना
7.3 समास का अर्थ एवं परिभाषा
7.4 समास के भेद
  7.4.1 अव्ययीभाव समास
  7.4.2 तत्पुरुष समास
  7.4.3 द्वन्द्व समास
  7.4.4 बहुव्रीहि समास
7.5 समासान्त पदों में परिवर्तन
7.6 सारांश
7.7 शब्दावली
7.8 सन्दर्भ-ग्रन्थ
7.9 अभ्यास प्रश्न

7.1 उद्देश्य

इस पाठ को पढ़ने के उपरान्त आप–

- समास के लक्षण एवं अर्थ से परिचित होंगे।
- समास के भेदों को विभिन्न सूत्रों के माध्यम से समझ सकेंगे।
- केवल समास का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- अव्ययीभाव समास की परिभाषा एवं उदाहरणों को जान पाएंगे।

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

- तत्पुरुष समास तथा इसके कर्मधारय, द्विगु, नञ् आदि भेदों को विस्तार से जानेंगे।
- द्वन्द्व तथा बहुव्रीहि समास विधायक सूत्रों को उदाहरण सहित समझ सकेंगे।

7.2 प्रस्तावना

प्रिय छात्रो! पूर्वतन पाठों में आप संज्ञा, सन्धि एवं कारक अथवा विभक्त्यर्थ प्रकरणों का विस्तृत अध्ययन कर चुके हैं। अब आप समास प्रकरण को समझने जा रहे हैं। सन्धि, कारक की भाँति समास ज्ञान भी संस्कृत अध्येता के लिए विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। समास का अर्थ है–**समसनं समासः** अर्थात् संक्षिप्त होने को समास कहते हैं। कारक प्रकरण में आपने विभक्तियों के प्रयोग को समझा, किन्तु कभी-कभी शब्दों की विभक्तियों को हटाकर वे संक्षिप्त या छोटे कर दिए जाते हैं अर्थात् दो से अधिक विभक्तिरहित शब्दों को आपस में मिला दिया जाता है। इस एक साथ जोड़ने को ही समास कहते हैं। पाणिनीय अष्टाध्यायी अनुसार यद्यपि समास के चार भेद कहे गए हैं, किन्तु लघुसिद्धान्तकौमुदी में केवलसमास सहित पाँच भेद स्वीकृत हैं। वस्तुतः केवलसमास में समास तो होता है, पर समासविशेष की संज्ञा नहीं होती है। इसलिए इसके विषय में **'विशेषसंज्ञाविनिर्मुक्तः केवलसमासः'** कहा गया है। इसे सुप्सुपा समास भी कहा जाता है। प्रस्तुत पाठ में सर्वप्रथम समास के लक्षण एवं परिभाषा तथा इसके भेदों के विषय में सामान्यतः बताया जाएगा। पुनः अव्ययीभाव, तत्पुरुष, द्वन्द्व तथा बहुव्रीहि समासों की परिभाषा एवं तद्-तद् विधायक सूत्रों को सोदाहरण विस्तृत रूप से समझाया जाएगा, जिससे आप समास प्रकरण का स्पष्टतः अवबोध कर पाएंगे।

7.3 समास का अर्थ एवं परिभाषा

'समास' शब्द 'सम्' उपसर्ग पूर्वक अस् धातु से बना है। इसका अर्थ है–संक्षेप, इकट्ठा करना। समास में दो या उससे अधिक शब्दों को इस प्रकार जोड़ा जाता है कि वे अलग-अलग शब्द न लगकर एक शब्द लगते हैं। समास में न केवल दो-या-दो से अधिक शब्दों को जोड़ा जाता है अपितु संक्षेप भी किया जाता है। जैसे 'सभापति' यह सभा और पति इन दो शब्दों को जोड़कर बनाया गया समास है। इस प्रकार 'सभापति' शब्द 'सभायाः पतिः' का संक्षेप है। यहाँ छठी विभक्ति के लुप्त होने जाने के कारण संक्षेप हुआ है। समास करने पर समास में आए शब्दों के बीच की विभक्ति नहीं रहती है। समास-युक्त शब्द एक हो जाता है और केवल सबसे अन्त में आने वाले शब्द में विभक्ति लगती है। जैसे 'सभापतिः' में 'सभा' शब्द के साथ षष्ठी विभक्ति 'सभायाः' नहीं लगती। अन्त के शब्द 'पतिः' में प्रथमा विभक्ति लगती है। जब हम समास में जुड़े हुए शब्दों को फिर अलग-अलग करके उनको पूर्व दशा में ले जाते हैं और उनके साथ सम्बन्धित विभक्तियाँ जोड़ देते हैं तो समास का विग्रह हो जाता है जैसे 'सभायाः पतिः'–सभापति विग्रह जिसका अर्थ है–अलग-अलग करना, जुड़े हुए शब्दों को तोड़ना, उनके टुकड़े-टुकड़े करना।

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

समास संस्कृत भाषा की विशेषता है। यहाँ समास न केवल दो शब्दों का अपितु तीन, चार, पाँच और इससे भी अधिक शब्दों का हो सकता है। उदाहरण के लिए 'राजपुरुष:' समास में केवल दो, राज्ञः (राजा का), पुरुषः (आदमी) शब्दों का ही समास है। जब बहुत से शब्दों का समास बनाना हो तो सबसे पहले केवल दो शब्दों का समास बनाया जाता है और तब दो शब्दों के इस समास को जोड़कर समास बनते जाते हैं और अन्त में सबके मेल से एक बड़ा समस्तपद बन जाता है। उदाहरण के रूप में 'जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु' [जनक की पुत्री (सीता) के स्नान के कारण पवित्र है जल जिनका–(ऐसे आश्रमों में) यह समस्त पद ले सकते हैं, जो कई पदों के मेल से बना है। सबसे पहले 'जनक' और 'तनया' का समास होता है–जनकस्य तनया (जनक की पुत्री)–जनकतनया। यह दो पदों का समास है। तब 'जनकतनया' समस्त पद का तीसरे पद 'स्नान' से समास होता है–जनकतनयाया: स्नानम् (जनक की पुत्री का स्नान)–जनकतनयास्नानम्। जब जनक, तनया, स्नान इन तीनों पदों के मेल से बने 'जनकतनयास्नान' समास का 'पुण्योदक' (पवित्र जल) समस्त पद से समास होता है–जनकतनयास्नानेन पुण्यं उदकं येषां ते–जनकतनयास्नानपुण्योदका:' (आश्रमा:) तेषु जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु। यहाँ आप देखेंगे कि उपर्युक्त जनकतनयास्नान, पुण्य, उदक के समास में 'येषां' (जिनका) शब्द छिपा है जिसका विग्रह करने पर प्रयोग किया जाता है किन्तु 'जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु' इस समास की व्यवस्था में 'येषाम्' का प्रयोग नहीं होता। इसका अर्थ इसमें छिपा रहता है जो इस समास का विग्रह करने पर प्रकट होता है। संस्कृत के कुछ समासों की यह विशेषता आगे चलकर समझाई जायेगी। हम चाहें तो उपर्युक्त 'जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु' में अन्तिम दो पदों 'पुण्य' और 'उदक' का पहले समास कर सकते हैं जैसे–पुण्यम् उदकम्=पुण्योदकम् (पवित्र जल) 'पुण्योदकं येषां ते पुण्योदका:'। तदनन्तर इसका 'जनकतनयास्नान' से समास कर सकते हैं–जनकतनयास्नानेन पुण्योदकं येषां ते=आश्रमा: (तेषु)। इस प्रकार उपर्युक्त समास जैसे लम्बे समासों का विग्रह करने की दो पद्धतियाँ हैं। पहले 'जनकतनयास्नान' का समास और फिर 'पुण्योदक' से उसका समास। अथवा पहले 'पुण्योदक' का समास और फिर उसका 'जनकतनयास्नान' से समास। परन्तु यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि परवर्ती पुण्योदक का पहले समास करने पर और फिर उसे 'जनकतनयास्नान' से जोड़ने पर पुण्य शब्द के अर्थ की प्रधानता नष्ट हो जाती है क्योंकि समास होने पर जब प्रथम पद विशेषण होता है तो वह गौण हो जाता है और वह विशेष्य पदों के समान प्रधान नहीं रहता। ऐसी दशा में 'उदक' (जल) शब्द की प्रधानता रहेगी और प्रथम शब्द पुण्य की, जो विशेषण है, अप्रधानता हो जाएगी। परन्तु यह कवि के अभिप्राय के विरुद्ध होगा क्योंकि कवि यह बताना चाहता है कि वे दर्शनीय आश्रम हैं, जो सीता के स्नान करने से पवित्र हैं। आश्रमों की पवित्रता का प्रतिपादन ही कवि को अभीष्ट है। पुण्य शब्द के गौण हो जाने पर कवि के अभिप्राय की सिद्धि नहीं होती। उसके प्रधान बने रहने पर ही कवि का अभिप्राय पूर्ण होता है। अत: 'पुण्योदक' का पहले समास करके इसे 'जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु' इस प्रकार समास बनाना चाहिए–जनकस्य तनया जनकतनया, जनकतनयाया: स्नानेन पुण्यम् उदकं येषां तेषु (आश्रमेषु)।

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

7.4 समास के भेद

समास में किसी एक पद की प्रधानता के आधार पर समास के चार भेद होते हैं। समास में कई पदों में से एक पद प्रधान होता है। कहीं समस्त पदों में प्रथम पद प्रधान होता है और कहीं अन्तिम पद। इस प्रकार समास के अनेक भेद हो जाते हैं। यहाँ पद की प्रधानता का आशय है–पद के अर्थ की प्रधानता। समास में पद की प्रधानता की चार स्थितियाँ हो सकती हैं–

(1) समास होने पर समस्त पदों में से पहले पद की प्रधानता जैसे–उपगंगम् (गंगा के समीप)। यहाँ 'उप' (समीपार्थक) अव्यय तथा 'गंगा' संज्ञा शब्द का समास है। 'उप' और 'गंगा' के समास 'उपगंगम्' में प्रथम पद 'उप' की प्रधानता है। अतः जिस समास में प्रथम पद प्रधान हो वहाँ समास का 'अव्ययीभाव' नामक भेद होता है।

(2) समास होने पर कभी समस्त पदों में से अन्तिम पद प्रधान होता है। जैसे–राज-पुरुषः (राजा का आदमी) अथवा नगर-जनः (नगर का मनुष्य)। यहाँ 'राज' और 'पुरुष' इन दो पदों के समास में अन्तिम पद 'पुरुष' की तथा 'नगर' और 'जन' इन पदों के समास में अन्तिम पद 'जन' की प्रधानता है। 'पुरुष' और 'जन' की विशेषता प्रकट करने वाले 'राज' और 'नगर' पद गौण हैं। अतः पदों का समास होने पर जब उनमें से अन्तिम पद की प्रधानता होती है तब उस समास को तत्पुरुष समास कहते हैं। तत्पुरुष समास के भी दो भेद होते हैं जिनके नाम हैं–'कर्मधारय' और 'द्विगु'। इनकी आगे व्याख्या की जायेगी।

(3) समास होने पर भी कभी-कभी सभी पद जिनका समास होता है, प्रधान होते हैं; कोई गौण नहीं होता। जैसे–घटपटौ (घड़ा और कपड़ा) समास में 'घट' और 'पट' दोनों पदों की प्रधानता है। 'घट' और 'पट' दो पृथक्-पृथक् अर्थों को बताते हैं और दोनों की तुल्य-प्रधानता है। इस तरह जब समास में सब पद बराबर प्रधान रहते हैं, तब उस समास को 'द्वन्द्व' कहते हैं। यह समास का तीसरा भेद है।

(4) कभी ऐसा भी होता है कि जिन पदों का समास होता है, उनमें से किसी भी पद की प्रधानता नहीं होती, परन्तु उन समस्त पदों के अतिरिक्त किसी अन्य पद की प्रधानता होती है जिसका समस्त पदों में उल्लेख तो नहीं होता परन्तु जिसकी ओर समस्त पद संकेत करता है। 'जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु' इसी प्रकार के समास का उदाहरण है जहाँ समस्त पदों में से किसी की भी प्रधानता नहीं है परन्तु इनसे भिन्न 'आश्रमेषु' के बिना सारा समास निरर्थक है। सीता के स्नान से पुण्य=पवित्र है जल जिसका ऐसा समस्त पद का अर्थ करने पर आकांक्षा रहती है कि क्या है? आश्रम का वर्णन होने पर सारा समास आश्रम की विशेषता के लिए प्रयोग में आता है। अतः आश्रम की प्रधानता होती है और समस्त पद 'जनकतनया' उसका विशेषण हो जाता है जो कि गौण है। तात्पर्य है कि ऐसा समास जहाँ

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

समस्त पदों से अतिरिक्त किसी अन्य पद की प्रधानता हो, बहुव्रीहि समास कहलाता है। हम इन समासों का लक्षण संक्षेप में इस प्रकार दे सकते हैं–

(1) जहाँ पूर्वपद प्रधान हो, वह अव्ययीभाव समास होता है।

(2) जहाँ उत्तरपद प्रधान हो, वह तत्पुरुष समास होता है।

(3) जहाँ दोनों पद या सभी पद प्रधान हों, वह द्वन्द्व समास होता है।

(4) जहाँ समस्त पदों में से कोई भी पद प्रधान न हो, कोई अन्य ही प्रधान हो, जिसकी ओर समस्त पद संकेत करता हो, वह बहुव्रीहि समास होता है।

7.4.1 अव्ययीभाव समास

जैसा पहले निर्देश किया गया है, इस समास में प्रथम पद प्रधान होता है और वह प्रथम पद प्राय: कोई-न-कोई अव्यय होता है, जैसे 'उप', 'यथा', 'आ', 'सम' आदि। उदाहरण के लिए 'उपगंगम्' में अव्ययीभाव समास है, जिसमें प्रथम पद 'उप' अव्यय है जो प्रधान है। अव्ययीभाव का अर्थ ही है–अव्यय हो जाना। अव्ययीभाव समास सदा अव्यय के रूप में होता है। अत: इसके अन्य समस्त समासों के समान सातों विभक्तियों में रूप नहीं चलते। यह सदा एक ही रूप में रहता है और इसके अन्त में सदा नपुंसकलिंग की प्रथमा का एकवचन रहता है। जैसे–'उपगंगम्' सदा इसी रूप में रहता है। अन्य समस्त पदों 'राजपुरुष' आदि के समान इसके विभक्तियों में रूप नहीं चलते। नीचे अव्ययीभाव समास के ऐसे उदाहरण दिए गए हैं जो प्रसिद्ध हैं और जिनका संस्कृत भाषा में अधिक प्रयोग होता है। ये सदा इसी रूप में रहते हैं और इनके विभक्तियों में रूप नहीं चलते।

यथाशक्ति (अपनी शक्ति के अनुसार)=इसका अक्षरार्थ है–अपनी शक्ति का अतिक्रमण न करके। 'यथाशक्ति श्रमं कुरु' का अर्थ है–अपनी शक्ति के अनुसार, जितना करने की तुम में शक्ति हो, परिश्रम करो।

यथाविधि (विधि के अनुसार)='विधिम् अनतिक्रम्य'। 'यथाविधि संस्कारं कुरु'–विधि के अनुसार, जैसा विधि में निर्देश दिया है या जैसी विधि है, उसके अनुसार संस्कार करो।

यथा-मुखम् (आराम से, सुख के साथ, सुखपूर्वक) 'सुखम् अनतिक्रम्य'। 'यथासुखम् आस्यताम्'–सुखपूर्वक बैठो

निर्मक्षिकम् (मक्खियों का अभाव)=मक्षिकाणाम् अभाव: निर्मक्षिकम्। यहाँ अभाव के अर्थ में 'निर्' अव्यय का प्रयोग है। 'कृतं' मया निर्मक्षिकम्'–मैंने इस स्थान को मक्खियों से शून्य कर दिया है। वस्तुत: अर्थ है–निर्जन प्रदेश बना दिया है। यहाँ 'निर्मक्षिकम्' का लाक्षणिक प्रयोग है।

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

परोक्षम्–अक्षण: परं (आँखों की पहुँच से परे, दूर)। 'स परोक्षं पापमनुतिष्ठति' वह चोरी से (आँखों से दूर) पाप करता है। कभी-कभी 'परोक्ष' समास का विशेषण के रूप में भी प्रयोग होता है जैसे 'परोक्षोयंऽविषय: (यह विषय आँखों की पहुँच से परे है)। यहाँ यह बात ध्यान रखने योग्य है कि 'परोक्ष' शब्द जब विशेषण के रूप में प्रयोग में लाया जाता है तब इसे अव्ययीभाव समास नहीं माना जाता और अव्यय न होने से फिर इसके रूप चलाए जाते हैं। इसी कारण यहाँ 'परोक्ष' के स्थान पर 'परोक्ष:' प्रयोग किया गया है। अव्ययीभाव समास होने पर सदा नपुंसकलिंग में 'परोक्षं' ही प्रयोग होता है।

समक्षम्=तथा समक्षं दहता मनोभवम् (आँखों के सामने विद्यमान कामदेव को भस्म करते हुए)।

आमुक्ति=यहाँ 'आ' अव्यय अवधि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अर्थ है मुक्ति तक, जब तक मुक्ति नहीं मिलती, मुक्ति की सीमा तक। 'आमुक्ति दु:खमेव संसार:'–जब तक मुक्ति नहीं मिलती, तब तक संसार में दु:ख है। इसका विग्रह होगा–आमुक्ते: (पञ्चमी)। इसी प्रकार 'आसमुद्रं' का प्रयोग भी है। 'आसमुद्रं भारतस्य विस्तार:' समुद्र तक भारतवर्ष का विस्तार है। आ समुद्रात् यहाँ आ अव्यय अवधि के अर्थ में है। अवधि दो प्रकार की होती है–(1) उस वस्तु को लेकर, (2) उस वस्तु को छोड़कर। 'आसमुद्र' के भी दो अर्थ हो सकते हैं–(1) समुद्र को भी मिलाकर, तब 'आ', 'अभिविधि' के अर्थ में है, (2) समुद्र को न मिलाते हुए उसे छोड़कर, तब 'आ' मर्यादा के रूप में है। भारत की सीमा समुद्र तक है जिसमें समुद्र भी आ जाता है। समुद्र भी भारत में सम्मिलित है यह अभिविधि है। या समुद्र जहाँ से आरम्भ होता है, वहाँ तक है अर्थात् जिसमें समुद्र सम्मिलित नहीं है यह मर्यादा है। कहाँ 'आ' अव्यय मर्यादा के अर्थ में है और कहाँ अभिविधि के अर्थ में, यह प्रसंग से ज्ञात होता है।

प्रत्यहम् (वीप्सा)=अहनि-अहनि प्रत्यहम्।

असंशयम्–यहाँ 'अ' निषेधार्थक है। 'असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा'–निस्संदेह वह किसी क्षत्रिय से विवाह करने योग्य है। यहाँ 'असंशयम्' अव्यय है और क्रिया-विशेषण के समान इसका प्रयोग हुआ है। अधिकतर अव्ययीभाव समास का क्रिया-विशेषण के रूप में प्रयोग होता है।

अनुक्षणम्–'क्षणम्क्षणम्'–प्रत्येक क्षण, यहाँ 'अनु' अव्यय 'प्रत्येक' के अर्थ में प्रयुक्त है। 'अनुक्षणम् पीड़ामनुभवति'–वह क्षण-क्षण पीड़ा अनुभव करता है।

अनुज्येष्ठम्–'ज्येष्ठम् अनतिक्रम्य'–ज्येष्ठ होने के अनुसार। 'अनुज्येष्ठं पदेषु नियुक्ति:'–पदों पर नियुक्ति ज्येष्ठता (Seniority) के अनुसार होनी चाहिए।

यावच्छक्यम्–जितना अपनी शक्ति में हो, जितना हो सके यावत्+शक्यम्। 'यावच्छक्यं भारतरक्षाकोशे दातव्यम्'–अपनी हैसियत के अनुसार (जितना कोई दे सकता है) भारत के रक्षाकोष में दान देना चाहिए।

अव्ययीभाव समास बनाते समय कुछ नियम ध्यान देने योग्य हैं। जैसे–

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

(1) अव्ययीभाव समस्त पद के अन्त का दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाता है; लतानां पश्चात् अनुलतम्, नद्याः समीपे अनुनदि, गवां पश्चात् अनुगु।

(2) अन् में अन्त होने वाले पदों के न् का पुल्लिंग और स्त्रीलिंग में नित्य और नपुंसकलिंग में विकल्प से लोप होता है, उपराजम् किन्तु उपचर्मम् या उपचर्म।

(3) अक्षि और पथिन् की क्रमशः अक्ष और पथ आदेश होता है परोक्षम्, समक्षम्, अनुपथम्।

(4) दिव्, दिश्, मनस्, शरद्, उपानह्, चतुर आदि शब्दों को नित्य और नदी गिरि, आदि को विकल्प से अ का आगम होता है, जैसे–प्रतिदिवम्, प्रतिदिशम्, सुमनसम्, उपनदम्, उपनदि, उपगिरम् अथवा उपगिरि।

7.4.2 तत्पुरुष समास

इस समास में उत्तर या अन्तिम पद प्रधान होता है। 'राज्ञः पुरुषः' में द्वितीय पद 'पुरुष' प्रधान है। प्रथम पद 'राज्ञः' षष्ठी विभक्ति द्वारा सम्बन्ध के अर्थ को सूचित करता है। कैसा पुरुष? जिसका राजा से सम्बन्ध है (राजा से सम्बन्ध रखने वाला पुरुष)। हिन्दी में 'का' सम्बन्ध सूचक है। यहाँ पुरुष की प्रधानता है क्योंकि राजपुरुष (सिपाही) कहने से पुरुष के अर्थ की प्रतीति होती है, राजा का अर्थ गौण हो जाता है। राजा की विवक्षा सम्बन्ध के लिए है। सातों विभक्तियों में किसी भी विभक्ति के साथ तत्पुरुष समास बन सकता है। परन्तु प्रथमा विभक्ति से तत्पुरुष समास बनाने पर इसे 'तत्पुरुष' न कहकर 'कर्मधारय' कहते हैं। यहाँ प्रथम पद, जो विशेषण होता है, प्रथमा विभक्ति में होता है जैसे– पुण्योदकम्=पुण्यम् (च तत्) उदकम्, नीलोत्पलम्-नीलम् (च तत्) उत्पलम्। प्रथमा विभक्ति से भिन्न अन्य द्वितीया, तृतीया आदि विभक्तियों से बने तत्पुरुष में प्रथम पद का दूसरे पद से किसी-न-किसी प्रकार का सम्बन्ध प्रकट होता है परन्तु प्रथमा विभक्ति से बने तत्पुरुष में इस प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं होता है। इसमें पहला पद विशेषण और दूसरा पद विशेष्य होता है, जैसे 'पुण्योदकम्' और 'नीलोत्पलम्' में पुण्य और उदक, नील और उत्पल पद एक ही वस्तु जल या कमल को बताते हैं, दोनों के सम्बन्ध को नहीं। इसमें प्रथम पद पुण्य तथा नील विशेषण है और द्वितीय पद उदक एवं उत्पल विशेष्य है और दोनों में समानाधिकरण है। नीलोत्पल का अर्थ है नीलाभिन्न उत्पल अर्थात् नील गुण से अभिन्न, नील गुण वाला उत्पल। गुण और गुणी में तादात्म्य होता है। अतः दोनों पदों से एक ही पदार्थ उत्पल की प्रतीति होती है, 'नील' और 'उत्पल' भिन्न-भिन्न पदार्थों की नहीं।

कर्मधारय समास बनाते समय निम्नलिखित नियमों का ध्यान रखना चाहिए–

(1) पूर्वपद यदि स्त्रीवाचक हो तो वह पुंवाचक हो जाता है और स्त्रीलिंग वाचक प्रत्यय यथा आ, ई, ऊ का लोप हो जाता है जैसे सती भार्या=सद्भार्या (ई का लोप) पाचका स्त्री=पाचक-स्त्री (आ का लोप) जीर्णा तरिः जीर्णतरिः।

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

(2) पूर्वपद में महत् हो तो वह महा हो जाता है जैसे महान् देवः=महादेवः। बहुव्रीहि समास में भी महत् का महा हो जाता है किन्तु कर्मधारयभिन्न तत्पुरुष में महत् का महा नहीं होता, जैसे महतां सेवाः–महत्सेवा।

(3) कु का पर पद के साथ समास होता है जैसे–कुत्सितः पुरुषः=कापुरुषः। यदि कु के बाद स्वर हो तो कु को कत् हो जाता है जैसे कुत्सितः अश्वः=कदश्वः। ईषद् को क, कत् अथवा कव हो जाता है, जैसे ईषत् उष्णम्=कोष्णम्, कदुष्णम् एव कवोष्णम्। ईषत् अर्थ में कु को का हो जाता है जैसे कापुरुषः।

(4) यदि किसी व्यक्ति द्वारा साथ-साथ किए हुए दो कार्य क्तान्त शब्दों से बताए गए हों तो उनका समास होता है और पहले किए काम का बोधक पहले और दूसरे का बोधक बाद में रखे जाते हैं। जैसे–पूर्वस्नानः पश्चात् अनुलिप्तः=स्नातानुलिप्तः, गृहीतबद्धः आदि।

यदि पूर्वपद उपमानवाचक हो और उत्तरपद विशेषण हो तो उनके समास को उपमान कर्मधारय समास कहते हैं। ऐसे समास के विग्रह में उपमानवाचक पद के साथ इव का प्रयोग करते हैं जैसे–घन इव श्यामः=घनश्यामः, हिममिव शिशिरम्=हिमशिशिम्।

यदि उत्तरपद उपमानवाचक और पूर्वपद उपमेयवाचक हो तो उनके समास को उपमित कर्मधारय कहते हैं। इसके विग्रह में उपमानवाचक उत्तरपद के साथ इव लगाते हैं, जैसे–पुरुषः व्याघ्रः इव पुरुषव्याघ्रः। मुखं चन्द्रः इव मुखचन्द्रः, करः पल्लवः इव करपल्लवः।

इस प्रकार कर्मधारय के तीन भेद हुए–विशेषणविशेष्य कर्मधारय, उपमानपूर्वपद कर्मधारय एवं उपमित कर्मधारय।

कर्मधारय या प्रथमा तत्पुरुष के कुछ उदाहरण हैं–

महान् पुरुषः=महापुरुषः; सप्त च ते ऋषयः=सप्तर्षयः, महान् राजा=महाराजाः (पञ्च च ते जनाः=पञ्चजनाः) आदि।

नञ् तत्पुरुष

जब कभी तत्पुरुष समास में निषेध का अर्थ रहता है तब इसे नञ् तत्पुरुष कहते हैं। न निषेधार्थक अव्यय है। इसके ञ् का लोप होकर केवल न रह जाता है। इस 'न' का किसी परवर्ती शब्द से समास होने पर उसे नञ् तत्पुरुष कहते हैं।

व्यञ्जन अक्षर से पूर्व आने वला 'न' अ में बदल जाता है परन्तु स्वर अक्षर से पूर्ववर्ती 'न' अन् में बदल जाता है; उदाहरण के लिए–न धर्मः=अधर्मः (न के बाद ध व्यंजन आने से अ हुआ); न

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

आश्रित:=अनाश्रित: (न के बाद आ स्वर होने से अन् हुआ)। अन्य उदाहरण हैं–न विद्वान्=अविद्वान्, न ऐश्वर्यम्=अनैश्वर्यम् आदि। कभी-कभी न का न ही रहता है वह अ या अन् में नहीं बदलता जैसे न आस्तिक:=नास्तिक:। कभी बहुव्रीहि समास भी न के साथ होता है जैसे, न अस्ति धनं यस्य स अधन:। इसी अर्थ में निर् अव्यय का भी प्रयोग होता है जैसे–निर्धन:।

द्विगु समास

तत्पुरुष समास में जब पूर्वपद संख्यावाचक (जैसे द्वि, त्रि, चतुर्) हो और वह समाहार का अर्थ दे या तद्धित प्रत्यय के प्रयोग से उसके अर्थ को सूचित किया जाए तब उसे द्विगु समास कहते हैं। समाहारार्थक द्विगु समास के अन्त में नपुंसकलिंग एवं एकवचन आता है और अकारान्त द्विगु कभी-कभी ईकारान्त हो जाता है। ऐसा नहीं है कि पूर्वपद संख्यावाचक होने पर सदा द्विगु समास ही हो। जब तक समस्त पद में समाहार का अर्थ प्रतीत न हो या तद्धित प्रत्यय के अर्थ की प्रतीति न हो तब तक संख्यावाचक शब्द पूर्वपद होने पर भी हम उसे द्विगु नहीं कहेंगे। जैसे–सप्तर्षय:। यहाँ संख्यावाचक शब्द 'सप्त' होने पर भी द्विगु नहीं है क्योंकि यहाँ समाहार तथा तद्धित का अर्थ नहीं है। यहाँ हम इसे सामान्य तत्पुरुष समास ही कहेंगे।

द्विगु समास के अन्य उदाहरण हैं–'त्रयाणां भुवनानां समाहार: त्रिभुवनम्', 'पञ्चसु कपालेषु संस्कृत: पंचकपाल:'। 'त्रिभुवनम्' में समाहार तथा पंचकपाल: में तद्धित प्रत्यय 'अण्' का संस्कार अर्थ छिपा है जिसे विग्रह करने पर जाना जा सकता है। द्विगु समास की कोई व्यावहारिक उपयोगिता नहीं है, केवल कुछ व्याकरण विषयक मान्यताओं के कारण ही इसे स्वीकार किया गया है।

अब प्रथमा विभक्ति से भिन्न अन्य द्वितीया, तृतीया आदि विभक्तियों से बने तत्पुरुष समास के उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं।

द्वितीया-तत्पुरुष–

स्वर्गप्राप्त:=स्वर्ग प्राप्त: (स्वर्ग को पहुँचा हुआ)।

ग्रामगत:=ग्रामं गत: (गाँव को गया हुआ)।

दु:खापन्न:=दु:खम् आपन्न: (दु:ख को प्राप्त)।

यहाँ स्वर्गम्, ग्रामम् आदि द्वितीया विभक्ति में हैं जिनका 'प्राप्त:' 'गत:' आदि से समास है। इनमें उत्तरपद प्रधान है।

कुछ उदाहरणों में जैसे 'कुम्भकार:' (कुम्भं करोति=कुम्भकार:) में जहाँ कृत्प्रत्ययान्त 'कार:' से पूर्व संज्ञापद 'कुम्भ' का प्रयोग होता है और इस प्रकार संज्ञा और कृदन्त का समास होता है, वहाँ उसे 'उपपद

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

समास' कहते हैं। अन्य उदाहरण हैं–तन्तुवाय: (धागे से बुनने वाला, जुलाहा), चर्मकार: आदि। यहाँ 'तन्तु' एवं 'चर्म' संज्ञाएँ हैं और 'वाय:' तथा 'कार:' कृदन्त पद हैं।

तृतीय–तत्पुरुष

पित्–सम:=पित्रा सम:	(पिता जैसा)।
वाक्–कलह:=वाचा कलह:	(वाणी से लड़ाई)।
विद्या–विहीन:=विद्यया विहीन:	(विद्या से रहित)।
सर्प–दष्ट:=सर्पेण दष्ट:	(साँप के द्वारा काटा हुआ)।

यहाँ 'पित्रा', 'वाचा' आदि तृतीयान्त पदों का समास हैं, अत: तृतीया तत्पुरुष है।

चतुर्थी–तत्पुरुष

गो–हितम्=गवे हितम्	(गौ के लिए हितकारी)।
यूप–दारू=यूपाय दारू	(यूप (यज्ञ–स्तम्भ) के लिए लकड़ी।
पादोदकम्=पादेभ्य: उदकम्	(पैरों के (धोने के) लिए पानी)।

'यूपाय', 'पादेभ्य:' आदि चतुर्थी विभक्ति में हैं। इनसे समास होने पर चतुर्थी तत्पुरुष है।

पंचमी–तत्पुरुष

चौर–भयम्=चौराद् भयम्	(चोर से डर)।
मार्ग–भ्रष्ट:=मार्गाद् भ्रष्ट:	(मार्ग से गिरा हुआ, हटा हुआ)।
विद्या–विमुख:=विद्याया: विमुख:	(विद्या से मुँह मोड़े हुए)।

'चौराद्', 'मार्गाद्' पंचम्यन्त पदों का समास होने से पंचमी–तत्पुरुष है।

षष्ठी–तत्पुरुष

राज–पुरुष:=राज्ञ: पुरुष:	(राजा का पुरुष)।
गुरु–कुलम्=गुरो: कुलम्	(गुरु का स्थान या परिवार)।
मूर्ख–शतम्=मूर्खाणां शतम्	(मूर्खों की सौ संख्या)।

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

यहाँ–'राज्ञः', 'गुरोः', 'मूर्खाणाम्' षष्ठी विभक्ति में हैं और उनका पुरुषः, कुलम्, शतम् से समास हुआ है। षष्ठी विभक्ति से समास होने के कारण षष्ठी-तत्पुरुष है।

सप्तमी-तत्पुरुष

कला-प्रवीणः=कलायां प्रवीणः (कला में चतुर)।

जल-क्रीड़ा=जले क्रीड़ा (जल में खेल)।

कर्म-कुशलः=कर्मणि कुशलः (काल में कुशल)।

यहाँ 'कलायां', 'जले', 'कर्मणि' सप्तमी विभक्ति में हैं। सप्तमी विभक्ति से समास होने पर सप्तमी तत्पुरुष है।

1. अलुक् समास

ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं, जहाँ समास होने पर भी प्रथम पद की विभक्ति का लोप नहीं होता और फिर भी उसे समास माना जाता है। ऐसे समास को 'अलुक् समास' कहते हैं, अलुक् का अर्थ है–विभक्ति के लोप का न होना। हम देखते हैं कि समास होने पर अन्तिम पद को छोड़कर शेष सभी पदों की विभक्ति का लोप हो जाता है। परन्तु अलुक् समास में समास होने पर भी विभक्ति का लोप नहीं होता और विभक्ति का लोप किए बिना ही उसी दशा में उसका अन्य पद से समास हो जाता है, जैसे–भयंकरः=भयं करोति (जो भय देता है) या प्रियंवदः=प्रियं वदति (जो प्रिय बोलता है)। यहाँ 'भय' और 'प्रियं' में द्वितीया विभक्ति लगी है, परन्तु उसका लोप किए बिना ही 'करः' और 'वदः' से उनका क्रमशः समास किया गया है। इसे द्वितीय अलुक् समास कहते हैं। इसी प्रकार 'आत्मनेपद', 'परस्मैपद' शब्दों में 'आत्मने', 'परस्मै' में चतुर्थी विभक्ति का लोप नहीं हुआ। यह चतुर्थी अलुक् समास है। इसी प्रकार देवानां प्रियः (जिसका पहले अर्थ था–देवताओं का प्यारा और बाद में इसका अर्थ हुआ–मूर्ख) और 'वाचस्पतिः' में षष्ठी विभक्ति का लोप नहीं हुआ है। अतः षष्ठी अलुक् समास है। 'सरसिजम्' में 'सरसि' सप्तमी विभक्ति का अलोप है, इसलिए यह सप्तमी अलुक् समास है।

7.4.3 द्वन्द्व समास

समास होने पर जब दोनों पद तुल्य प्रधान होते हैं, तब द्वन्द्व समास होता है। इसके तीन भेद हैं–

(1) **इतरेतर द्वन्द्व**–जब दो या अधिक पद समास में बराबर प्रधान होते हैं, तब 'इतरेतर' द्वन्द्व होता है। जैसे–देवदत्तः च यज्ञदत्तः च देवदत्त-यज्ञदत्तौ, देवदत्त और यज्ञदत्त, दोनों पद इस समास में बराबर प्रधान हैं, अतः 'इतरेतर' द्वन्द्व है। यदि दो पदों का समास हो, तो द्विवचन में रखा जाता है और यदि दो से अधिक पदों का समास हो तो बहुवचन में। इसीलिए देवदत्त यज्ञदत्त दो का समास होने पर

© *Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi*

'देवदत्त-यज्ञदत्तौ' द्विवचन है, परन्तु धव, खदिर, पलाश तीनों का समास होने पर अन्तिम पद बहुवचन में होगा—धवखदिरपलाशाः (धव, खदिर, पलाश नाम के वृक्ष)।

(2) **समाहार द्वन्द्व**—जब समास के दो या अधिक पद तुल्य प्रधान होते हैं, परन्तु वे मिलकर प्रधान रूप से समाहार (समूह) का अर्थ देते हैं, तब वह समास समाहार द्वन्द्व होता है। सब पद मिलकर समूह के वाचक होते हैं, अतः समासान्त पद एकवचन में होता है और नपुंसक लिंग में रखा जाता है। जैसे—पाणिपादम्—पाणी च पादौ च (हाथ और पैर का समूह)। यहाँ समाहार है जो एकत्व का बोधक है अतः एकवचन है। शरीर के अंगों का समास समाहार द्वन्द्व होता है। आहार-निद्रा-भय, भोजन, नींद और डर—इन सबका समाहार होता है—जहाँ इनकी पृथक्-पृथक् प्रतीति न होकर सबके मिले हुए समुदाय रूप अर्थ की प्रतीति होती है। इसी प्रकार अन्य उदाहरण हैं—अहिनकुलम्=अहिः च नकुलः च (साँप और नेवला) यहाँ साँप और नेवले के प्राकृतिक वैर को सूचित करने के लिए 'समाहार' द्वन्द्व का प्रयोग किया गया है।

(3) **एकशेष द्वन्द्व**—जब दो या अधिक शब्दों में से, समास होने पर, एक ही शेष रह जाए, दूसरे का समास में प्रयोग न हो, विग्रह से ही उसका ज्ञान हो तब 'एकशेष' द्वन्द्व समास होता है। सब पदों में से जो सबसे प्रधान होता है, वही शेष रहता है। समास में द्विवचन के प्रयोग से पता लगता है कि यह दो के लिए है चाहे शेष एक ही पद हो। जैसे 'माता च पिता च' इन दो पदों का एक शेष समास होने पर 'पिता' एक शब्द ही शेष रहता है और समास का रूप होता है—पितरौ। यहाँ द्विवचन इस बात का सूचक है कि पितरौ, माता और पिता दोनों के लिए है। इसी प्रकार भ्राता च स्वसा (बहन) च का समास 'भ्रातरौ' भाई और बहन दोनों का सूचक है। इसी प्रकार ब्राह्मणी च ब्राह्मणः च=ब्राह्मणौ, शूद्री च शूद्रः च=शूद्रौ, एकशेष द्वन्द्व समास के उदाहरण हैं।

7.4.4 बहुव्रीहि समास

जब समास में आए हुए दो या अधिक शब्द मिलकर किसी अन्य शब्द के विशेषण बन जाते हैं, तो उसे बहुव्रीहि समास कहते हैं। उदाहरणतया 'जनकतनयास्नान-पुण्योदकेषु' में जिन शब्दों का समास हुआ है उनमें से कोई भी प्रधान नहीं है। कोई अन्य पद ही जिसका समास में प्रयोग नहीं हुआ (यहाँ आश्रम पद) परन्तु जिसकी ओर समस्त पद संकेत करता है, प्रधान है। अन्य उदाहरण हैं—पीताम्बरः=पीतानि अम्बराणि यस्य सः (पीले हैं वस्त्र जिसके वह श्रीकृष्ण)। यहाँ 'पीताम्बर' समस्त पद श्रीकृष्ण का सूचक है, जिसका उल्लेख समस्त पद में नहीं है परन्तु जिसकी ओर सारा समस्त पद संकेत करता है। पीत, अम्बर दोनों पद अप्रधान हैं और जिसके ये सूचक हैं, वह 'श्रीकृष्ण' प्रधान है।

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

बहुव्रीहि समास का विग्रह करने के लिए विग्रह में यत् शब्द के किसी रूप का आना आवश्यक है। इस 'यत्' से प्रकट किया जाता है कि समास में आए हुए शब्द विशेषण रूप में किसी अन्य विशेष्य पद के बोधक हैं या उससे सम्बन्ध रखते हैं।

बहुव्रीहि समास दो प्रकार का होता है–समानाधिकरण बहुव्रीहि और व्यधिकरण बहुव्रीहि।

(1) **समानाधिकरण बहुव्रीहि**–यह वह बहुव्रीहि है जिसके दोनों या सभी शब्दों का एक ही अधिकरण अर्थात् विभक्ति होती है, जैसे–'पीतपट:' समानाधिकरण बहुव्रीहि है क्योंकि इसका विग्रह करने पर समास में आए 'पीत' और 'पट' पदों को एक जैसी विभक्ति और वचन में रखा जाता है, जैसे–पीत: पट: यस्य स:। यहाँ 'पीत:' पहला पद और 'पट:' दूसरा पद, दोनों प्रथमा विभक्ति एकवचन में रखे गए हैं। दोनों का समान अधिकरण है। अन्य उदाहरण हैं–महाकाम:–महान् काम: यस्य स: ('महान्' 'काम', दोनों पद प्रथमा विभक्ति एकवचन में हैं अर्थात् दोनों का समान अधिकरण है), सत्यधन:=सत्यं धनं यस्य स: (जिसा धन सत्य है वह।), दृढप्रतिज्ञ:=दृढा प्रतिज्ञा यस्य स: (जिसकी प्रतिज्ञा पक्की है, वह))। यहाँ 'सत्य' और 'धन' दोनों नपुंसकलिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन में हैं और 'दृढा' और 'प्रतिज्ञा' स्त्री लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन में है।

(2) **व्यधिकरण बहुव्रीहि**–व्यधिकरण बहुव्रीहि वह समास है जहाँ समस्त पदों में समानाधिकरण नहीं होता। दोनों या अधिक पद सब एक ही विभक्ति, एक ही जैसे वचन में नहीं होते। प्रत्युत समस्त पदों का विग्रह करते समय यदि एक पद प्रथमान्त है तो दूसरा पद प्रथमा से भिन्न किसी अन्य चतुर्थी, पंचमी या सप्तमी विभक्ति में होता है। पदों के समान अधिकरण (विभक्ति) न होने के कारण, भिन्न-भिन्न अधिकरण (विभक्ति) होने के कारण इसे व्यधिकरण बहुव्रीहि कहते हैं। जैसे–चन्द्र–शेखर:='चन्द्र: शेखरे यस्य स:' में 'चन्द्र' तो प्रथमा विभक्ति में है परन्तु 'शेखरे' सप्तमी विभक्ति में है। दोनों का अधिकरण भिन्न है तथा दोनों भिन्न-भिन्न पदार्थों के बोधक हैं। इसी प्रकार चक्रपाणि:=चक्रं पाणौ यस्य स: (चक्र है हाथ में जिसके वह–विष्णु)। यहाँ भी 'चक्र' और 'पाणि' दोनों पद चक्र और हाथ भिन्न-भिन्न पदार्थों के बोधक हैं एवं दोनों में प्रथमा और सप्तमी भिन्न-भिन्न विभक्तियाँ हैं। अन्य उदाहरण हैं–

चन्द्रमौलि:=चन्द्र: मौलौ यस्य स: (चन्द्र है मस्तक पर जिसके वह–शिव)।

जालहस्त:=जालं हस्ते यस्य स: (जाल है हाथ में जिसके, वह)।

बहुव्रीहि के अन्तर्गत एक अन्य समास भी आता है जिसे 'सह-समास' कहते हैं। जब 'सह' के साथ बहुव्रीहि समास बनता है, तो उसे 'सह-समास' या 'सह-बहुव्रीहि' कहते हैं। जैसे–सपुत्र:=पुत्रेण सह इति सपुत्र:=पुत्र के साथ जो है, वह (पिता)। सधर्म:=धर्मेण सह इति सधर्म: (वह जो धर्म को रखता है)। जैसे 'सह' के

© *Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,*
School of Open Learning, University of Delhi

साथ बहुव्रीहि समास होता है वैसे नञ् (नहीं) के साथ भी होता है। जैसा कि पहले नञ् तत्पुरुष समास में बतलाया जा चुका है, तब इसे 'नञ् बहुव्रीहि' या 'नञ् समास' कहते हैं; जैसे–अधनः=नास्ति धनं यस्य सः (नहीं है धन जिसके पास, वह) या निर्धनः=निर्गतं धनं यस्मात् सः, अपुत्रः=न अस्ति पुत्रः यस्य सः।

7.5 समासान्त पदों में परिवर्तन

समास के अन्त में आने वाले पदों के अन्तिम अक्षरों में बहुधा परिवर्तन देखा जाता है, विशेष रूप से बहुव्रीहि समास में। जैसे–'पुष्पं धनुः यस्य सः' इसका बहुव्रीहि समास करने पर रूप होता है–पुष्पधन्वा। यहाँ अन्तिम पद धनु के अन्तिम अक्षर 'उ' में परिवर्तन हैं 'उ' के स्थान पर हम 'वा' देखते हैं। इसी प्रकार 'महान् च असौ राजा' का समास करने पर रूप होता है, महाराजः। यहाँ अन्तिम पद राजन् के अन् के बदले 'अ' हो गया है। समास के अन्त में यह परिवर्तन समासान्त प्रत्ययों के कारण होता है जिनके प्रयोग के नियम व्याकरण ग्रन्थों में दिए गए हैं। जैसे एक नियम है कि राजन्, सखि, अहन् का समास होने पर टच् समासान्त प्रत्यय होता है। तदनुसार समासान्त प्रयोग होते हैं–महाराजः, कृष्णसखः। समासान्त 'टच्' प्रत्यय होने पर राजन् शब्द समास की अवस्था में 'राज' अकारान्त हो जाता है, 'सखि' 'सख' बन जाता है, और इनके रूप में अकारान्त पुल्लिंग 'राम' 'देव' आदि शब्दों के समान चलते हैं। जैसे–महाराजः, महाराजौ, महाराजाः, कृष्णसखः, कृष्णसखौः, कृष्णसखाः आदि। कृष्णसखः का विग्रह है–कृष्णस्य सखा। यह षष्ठी तत्पुरुष समास है। अथवा 'कृष्णः सखा यस्य सः' ऐसा भी विग्रह हो सकता है। तब वह बहुव्रीहि समास होगा। इसी प्रकार द्वित्राः=द्वौ वा त्रयो वाः=द्वित्राः (दो या तीन)। यहाँ समासान्त प्रत्यय के कारण 'त्रि' का 'इकार' 'अकार' होकर 'द्वित्र' अकारान्त रूप होता है और इसके रूप 'राम' अकारान्त शब्द के समान चलते हैं परन्तु सदा बहुवचन में, क्योंकि दो या तीन बहुवचन सूचक हैं। द्वित्राः, द्वित्रान्, द्वित्रेभ्यः आदि। अथवा इसके रूप अकारान्त नपुंसकलिंग 'फल' आदि–शब्दों के समान भी चलते हैं जैसे-जैसे 'द्वित्राणि'।

विद्यार्थियों की सुविधा के लिए हम एक तालिका दे रहे हैं जिसकी सहायता से समास के सब भेदों के उदाहरण सहित समझा जा सकता है–

समासाः (समास के भेदों की सूचक तालिका)

अव्ययीभाव	तत्पुरुष	द्वन्द्व	बहुव्रीहि
इसमें प्रथम पद (जो अव्यय होता है), प्रधान रहता है। संक्षेप में इसे 'पूर्वपदप्रधान' समास कह सकते हैं। इसके	इसमें द्वितीय या अन्तिम पद प्रधान होता है। प्रथम पद सातों विभक्तियों में से किसी में भी हो सकता है।	इसमें दोनों या सभी पद प्रधान होते हैं। इसे 'उपपदप्रधान' कहते हैं। इसके तीन भेद	इसमें अन्य पद प्रधान होता है, जिसका समास में उल्लेख नहीं होता। सारा समस्त पद किसी अन्य का विशेषण बन

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

उदाहरण हैं– उपर्गगम् उपगंगम्, प्रतिदिनम्, यथाशक्ति। गंगाया: समीपे=उपगंगम् यहाँ 'उप' अव्यय का गंगा से समास है। यहाँ अव्यय प्रधान है। प्रतिदिनम्=दिनं, दिनं प्रति यथाशक्ति=शक्तिम्=अनतिक्रम्य इति।	परन्तु प्रथमा विभक्ति होने पर इसे 'कर्मधारय' तथा संख्यावाचक पद पूर्व होने पर इसे 'कर्मधारय' तथा संख्यावाचक पद पूर्व होने पर इसे 'द्विगु' कहते हैं। संक्षेप में इसे 'उत्तरपदप्रधान' समास कह सकते हैं; (१) प्रथमा तत्पुरुष (कर्मधारय) जैसे–महापुरुष: (महान चासौ पुरुष:) उपमित समास=मुखचन्द्र: (मुखं चन्द्र इव) नञ् तत्पुरुष=अधर्म: (न धर्म:) द्विगु=त्रिलोकी (त्रयाणां लोकानां समाहार:)। (२) द्वितीया तत्पुरुष= ग्रामं गत:, (ग्रामगत:)। (३) तृतीया-तत्पुरुष= विद्याविहीन: (विद्यया विहीन:)। (४) चतुर्थी-तत्पुरुष= गो हितम् (गोभ्य: हितम्)	हैं– (१) इतरेतर द्वन्द्व–जैसे देवदत्तयज्ञदत्त (देवदत्त: च यज्ञदत्त: च)। (२) समाहार द्वन्द्व– जैसे पाणिपादम् (पाणी च पादौ च तयो: समाहार:)। (३) एकशेष द्वन्द्व= जैसे–पितरौ (माता च पिता च)।	जाता है। इसे 'अन्यपद प्रधान' समास कहते हैं। इसके दो भेद हैं– (१) समानाधिकरण बहुव्रीहि=जैसे–पीताम्बर: पीतानि अम्बराणि यस्य स:)। (२) व्यधिकरण बहुव्रीहि= जैसे– चक्रपाणि: (चक्रं पाणौ यस्य स:)। कभी 'सह' के साथ और कभी 'न' के साथ भी बहुव्रीहि होता है। 'सह' के साथ समास होने पर इसे सहसमास जैसे–सधर्म: (धर्मेण सह) कहते हैं। नञ् के साथ समास होने पर 'नञ्' बहुव्रीहि कहते हैं, जैसे–अधन: (नास्ति धनं यस्य स:)।

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning,
School of Open Learning, University of Delhi

	(५) पंचमी-तत्पुरुष= राजपुरुषः (मार्गात् भ्रष्टः)। (६) षष्ठी-तत्पुरुष:राजपुरुषः (राज्ञः पुरुष)। (७) सप्तमी-तत्पुरुषः= कर्मकुशलः (कर्मणिकुशलः)।		

7.6 सारांश

प्रस्तुत पाठ 'समास प्रकरण' के अन्तर्गत सर्वप्रथम आपने समास की परिभाषा व अर्थ को विस्तार से जाना, साथ ही अनेक शब्दों वाले समस्तपद का विग्रह किस प्रकार से किया जाए, इस विषय को भी उदाहरण सहित सरलतया समझाया गया। अव्ययीभाव समास की परिभाषा तथा **'अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धि'** प्रभृति सूत्रों का अर्थसहित विस्तृत अध्ययन किया, साथ ही लौकिक एवं अलौकिक विग्रहवाक्य का ज्ञान प्राप्त किया। तत्पुरुष विधायक सूत्रों का सोदाहरण परिचय भी प्राप्त किया। तत्पुरुष समास के द्वितीय विभक्ति से सप्तमी विभक्ति पर्यन्त प्रयोगों को समझा तथा इस समास के अन्य भेदों–कर्मधारय वा समानाधिकरण, संख्यावाची द्विगु तथा नञ् समास को विस्तार से पढ़ा गया। तदुपरान्त द्वन्द्व समास व भेदों को तथा बहुव्रीहि समास को तद्-तद् विधायक सूत्रों के माध्यम से उदाहरण सहित भली-भाँति समझाया गया।

7.7 शब्दावली

समास – संक्षिप्त होने को समास कहते हैं अथवा जहाँ दो या दो से अधिक शब्द एक स्थान पर, एकपद, एक अर्थ वाले बन जाते हैं, उसे समास कहते हैं।

वृत्ति – **परार्थाभिधानं वृत्तिः** अर्थात् समास आदि में जब पद अपने स्व-अर्थ को पूर्णतया या अंशतः छोड़कर एक विशिष्ट अर्थ को बतलाता है, उसे वृत्ति कहा गया है। वृत्ति के पाँच प्रकार कहे हैं–कृदन्तवृत्ति, तद्धितवृत्ति, समावृत्ति, एकशेषवृत्ति तथा

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi

सनाद्यन्त धातुवृत्ति।

विग्रह वाक्य – वृत्ति के अर्थ का बोधा कराने वाला वाक्य विग्रह वाक्य कहलाता है। यह लौकिक और अलौकिक दो प्रकार का होता है।

समासान्त – जो समास के अन्त में समाससमुदाय के अवयव के रूप में प्रयुक्त होते हैं; वे समासान्त प्रत्यय कहलाते हैं।

बहुलम् – बहुल से तात्पर्य है–कहीं प्रवृत्त होना, कहीं प्रवृत्त नहीं होना, कहीं विकल्प से कार्य का होना तथा कहीं अन्य प्रकार से कार्य का सम्पन्न होना।

समानाधिकरण – दो पदार्थों का एक ही आधार वा समान आधार हो, उसे समानाधिकरण कहते हैं।

7.8 सन्दर्भ-ग्रन्थ

- ***लघुसिद्धान्तकौमुदी***, चन्द्रकला नामक हिन्दी व्याख्या, डॉ. अर्कनाथ चौधरी, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर, 2001
- ***लघुसिद्धान्तकौमुदी***, धरानन्द शास्त्री, मूल एवं हिन्दी व्याख्या, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2003
- ***लघुसिद्धान्तकौमुदी*** (भैमी व्याख्या), भीमसेन शास्त्री, प्रथम भाग, भैमी प्रकाशन, दिल्ली, 1983।
- ***लघुसिद्धान्तकौमुदी***, प्रकाशिका नाम्नी हिन्दी व्याख्या, सत्यपाल सिंह, शिवालिक पब्लिकेशन, दिल्ली, 2014
- शर्मा 'ऋषि', डॉ. उमाशंकर–***संस्कृत साहित्य का इतिहास***, चौखम्भा भारती अकादमी, वाराणसी, 2014

7.9 अभ्यास प्रश्न

1. निम्न सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या कीजिए–
   (क) उपसर्जनं पूर्वम्।
   (ख) पञ्चमी भयेन।
   (ग) संख्यापूर्वो द्विगुः।
2. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।
   (क) अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धि व्यृद्धयर्थाभाव– .... साकल्यान्तवचनेषु।
   (ख) समासविधायक सूत्र में प्रथमानिर्दिष्ट पद की .... संज्ञा होती है।

© *Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi*

(ग) 'नस्तद्धिते' सूत्र भसंज्ञक टि का .... करता है।

(घ) द्विगु समास की .... सूत्र से द्विगु संज्ञा होती है।

(ङ) .... समास में अन्य पद प्रधान होता है।

3. तत्पुरुष समास और बहुव्रीहि समास में परस्पर अन्तर को सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।
4. 'नलोपो नञः' सूत्र की उदाहरण सहित व्याख्या कीजिए।
5. द्वन्द्व समास के पाँच उदाहरण सूत्र सहित लिखिए।

उद्घोषणा (Disclaimer)

वर्तमान अध्ययन सामग्री वार्षिक मोड/सी.बी.सी.एस. सेमेस्टर सिस्टम के तहत पहले से उपलब्ध अध्यायों का संशोधित संस्करण है।

© Department of Distance & Continuing Education, Campus of Open Learning, School of Open Learning, University of Delhi